दिनांक	सदस्य संख्या	दिनाँक	सदस्य संख्या

* ओ३म् *

मानव-धर्म्म-शास्त्र

तथा

शासन-पद्धति

प्रस्तावना

यद्यपि मनु भगवान् के बनाये हुए धर्म्म-शास्त्र का नाम मानव-धर्म्म-शास्त्र है तथापि इस स्थान में मनुष्य सम्बन्धी धर्म्म-शास्त्र का आन्दोलन करना अभीष्ट है। जिस 'मन' धातु से मनुष्य शब्द बना है, उसी से 'मनु' शब्द भी सिद्ध होता है।

मानव के अर्थ हुए मनुष्य सम्बन्धी, धर्म्मः-धरति धारयति वा, जिसे संसार धारण करे वा जो संसार को धारण किये हुए है उसे धर्म्म कहते हैं। प्राकृत पदार्थों का धर्म्म भिन्न है, यथा अग्नि का जलाना तथा प्रकाश देना, वायु का स्पर्श करना, हिलना व सुखाना। पशुओं का धर्म्म भिन्न है, परन्तु मनुष्य की अपेक्षा फिर भी उसकी विद्या बहुत सरल है। मनुष्य की बनावट जैसी अधिक सम्मिश्रित है उतना ही उसका धर्म पेचीदा है। इसलिये मानव-धर्म्म की विद्या भी बड़ी पेचीदा है।

शास्त्र शब्द का प्रयोग विद्या अर्थात् Science के अर्थ में

किया गया है। एक विद्वान् ने कहा है कि "मनुष्य के लिये अध्ययन का विषय मनुष्य ही है।" इसलिये किसी मनुष्य समाज का कार्य निर्विघ्न नहीं चल सकता, जब तक उसका मस्तिष्क अर्थात् ब्राह्मण-विभाग मानव-धर्म्म-शास्त्र के रहस्य को न समझ ले।

मानव-धर्म्म-शास्त्र की आवश्यकता

किसी मनुष्य समाज का भी बिना किसी विशेष शास्त्र-पद्धति के निर्वाह नहीं हो सकता—एक ही स्थान में सीमा-बद्ध १०० असभ्य मनुष्यों के समाज को भी जीवन निर्वाह करने के लिये किन्हीं विशेष प्रबन्ध सम्बन्धी नियमों के मानने की आवश्यकता होती है। यदि ऐसे असभ्य समाज में भी सोने और सामान रखने का स्थान प्रत्येक व्यक्ति के लिये निश्चित न हो, विरोधी जातियों से रक्षा के लिये रात को चौकीदार निश्चित न हों, स्त्रीपुरुष के सम्बन्ध के लिये कोई मर्य्यादा न हो तो उस समाज का जीवन ही असम्भव हो जाय। इसलिये असभ्य से असभ्य समाज के लिये भी किसी प्रकार की शासन-पद्धति की आवश्यकता होती है। फिर जब सभ्यता के उत्तरोत्तर बढ़ने से समाज के पारस्परिक सम्बन्ध अधिक पेचदार हो चलते हैं, तब शासन-पद्धति बनाने में भी बुद्धि को अधिक लड़ाना पड़ता है। और उस समय यदि शासन-पद्धति का निर्माण करने वाले मानव-धर्म्म की विद्या के ज्ञाता हों तो उस समाज की शासन-पद्धति अपेक्षया शुद्ध बन सकेगी।

अध्याय १म

यूरोप में मानव-धर्म-शास्त्र का विकास

भारत-वर्ष जिस समय अर्द्ध सभ्य देश समझा जाता था—उस समय यूरोपियन विद्वानों का यह मत था कि Law अर्थात् शासन-विधि का पूर्ण विकास एशिया में कभी नहीं हुआ, और यूरोप ने ही एशिया को Law का बोध कराया है। परन्तु आज जब कि जर्मन विद्वानों ने मान लिया है कि Law सम्बन्धी जितनी उन्नति पूर्व मीमांसा-कार के समय में हो चुकी थी उस तक योरोपियन jurists (धर्म्म-शास्त्रज्ञ) कहीं अब पहुंचने लगे हैं—ऐसे समय में यह कहना ठीक नहीं है कि मानव-धर्म्म-शास्त्र की बुनियाद युरुप में ही डाली गई। इस समय इस विचार को आगे के लिये छोड़ कर कि मानव-धर्म्म-शास्त्र की शिक्षा कहां से फैली, हम उसकी यूरोप में हुई उन्नति पर विचार करते हैं।

यूरोप में शास्त्र का नाम तथा प्रारम्भ

जिस प्रकार अन्य सभी विद्याओं (शास्त्रों Sciences) का आरम्भ यूरोप में अपूर्ण रूप से ग्रीस [यूनान] देश में और पूर्ण रूप से रोम में हुआ, उसी प्रकार धर्माधर्म के विवेचन की विद्या का विचार भी सब से पहले रोमन साम्राज्य के दार्शनिकों ने ही उठाया था। और इसी लिए धर्म्मशास्त्र का भाव प्रकट करने के लिए जिस शब्द का प्रयोग यूरोप में होता है वह भी रोमन भाषा की लातीनी धातुओं पर अवलंबित है। यूरोपने सर्व विद्याऐं रोम

सेलीं । इसी प्रकार सारी शासन विद्या [Law] के लिए भी यूरोप इगलैंएड, और अमेरिका को रोम की ही कृतज्ञता प्रकट करनी पड़ती है ।

यूरोपियन धर्म्मशास्त्रज्ञ धर्मशास्त्र को [Jurisprudence] कहते हैं । रोम की लातीनी भाषा में Juris बना है Jus धातुसे–जिस के अर्थ Justice,Right हैं । Prudence बना है, prudentia धातु से, जिस के अर्थ Knowledge, Science हैं। सबसे पूर्व जिस व्यक्ति ने Law अर्थात धर्म शास्त्र को विद्या का पद प्रदान किया वह रोमन नीतिज्ञ तथा वक्ता **सिसरो** था। उसने ज्योतिष, रेखा गणित और अन्य ऐसी विद्याओं में, जिनका उद्देश्य सत्यासत्य का निर्णय करना है, Jurisprudence वा धर्म-शास्त्र की भी गणना की है। वह बतलाता है कि धर्म-शास्त्र के सिद्धांत हमें मनो-विज्ञान से निकालने चाहियें। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने दीर्घ-दृष्टि से देखा कि जाति और देश भेद से Law के गौण नियमों में चाहे कितना ही भेद आजावे प्रत्युत् धर्माधर्म के मूलसिद्धान्त सब स्थानों में एक से ही रहते हैं।

सिसरो के पश्चात् रोम के प्रसिद्ध Jurist Ulpian अलपाइन ने Jurisprudence को मानवीय और दैवीय विज्ञान का भंडार तथा धर्म्मा धर्म का शास्त्र बतलाया। कुछ समय तक यूरोप की आधुनिक जातियां Jurisprudence शब्द का Law के

अर्थों में प्रयोग करती रहीं। कभी अंग्रेज़ी—फ़्रांसीसी तथा अन्य देशों की शासन-पद्धतियों को उन देशों की Jurisprudence के नामसे पुकारते रहे यथा French Jurisprudence [Law के स्थान में] English Jurisrpudence, इत्यादि। जब ऐसे नामकरण की निरर्थकता स्पष्ट होने लगी तो फिर शासन-पद्धतियों के विविध विभागों का नाम Jurisprudence रक्खा जाने लगा—यथा Civil Jurisprudence, Criminal Jurisprudence, Equity Jurisprudence (साधारण न्याय) परन्तु आजकल इस समय यूरोप का कोई भी Jurist इस शब्द का प्रयोग Law के अर्थों में नहीं करता।

शास्त्र की सीमा

यद्यपि धर्म्माधर्म का नियम, जड़ चेतन सारे ही जगत् के अन्दर हम देखते हैं तथापि सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के लिए सब से पहले धर्म-शास्त्र का जानना आवश्यक है। प्रकृति के साथ मनुष्य का गाढ़ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु इस से भी बढ़कर चेतन आत्मा का सम्बन्ध चेतन के साथ है। इस लिए इस स्थान में हमारा प्रयोजन प्राकृत पदार्थों के धर्म्माधर्म की गवेषणा वा पशु-सृष्टि के पाप पुण्य की विवेचना से नहीं है। हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि किन आचरणों के अभ्यास से मनुष्य-समाज की स्थिति रह सक्ती है और किन अनाचारों के कारण उनका नाश हो जाता है। इस लिये सार्वभौम धर्म-शास्त्र के विचार को

इस समय छोड़ कर हम केवल मानव-धर्म-शास्त्र की सीमा के अन्दर ही अपने विचारों को सीमा-बद्ध करेंगे।

यूरोपियन धर्म-शास्त्रज्ञों के भेद न करने के कारण

वास्तव में Jurisprudence शब्द के अन्तर्गत वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य तीनों प्रकार की सृष्टियों के धर्म्मका आन्दोलन आजाता है। इस लिए यूरोपियन Jurists को भी इस विद्या का आरम्भ करते हुए मानव शब्द का विशेषण साथ लगाना चाहिये था और इस शास्त्र का नाम Human Jurisprudence रखना चाहिये था, परन्तु ईसा के पूर्व रोमन मतों और उस के पश्चात् ईसाई जातियों में पशु-पक्षी तथा वनस्पति के अन्दर जीवात्मा का अभाव माना जाता था, इसी लिये उन्हें ऐसा भेद करने की आवश्यकता न हुई। ईसाइयों की सृष्टिविद्या बतलाने वाले धर्म पुस्तक के अनुसार तो परमेश्वरने जीवन का वायु केवल पुरुष के अन्दर ही फूंका था और इस लिये चिरकाल तक स्त्री का कोई अधिकार नहीं समझा जाता था। आर्यों में प्राचीन काल से ही सर्व साधारण तक जीवात्मा के स्वरूप को जानते थे, वे जानते थे कि जहां मनुष्य में ज्ञान गुण का पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव है, वहां पशु योनि में उसकी स्वप्नावस्था, और वनस्पति योनि में उस की सुषुप्तावस्था अर्थात् तिरोभाव है। इसी लिए आर्य दार्शनिकों ने मनुष्यों के लिए जब धर्म्मा-धर्म का विचार किया तो उसके साथ मानव शब्द का विशेषण भी लगा दिया।

कहीं २ ऐतिहासिक और दार्शनिक धर्म-शास्त्र नाम रख कर इस विद्या को दो विभागों में विभक्त करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु विद्या के ये दो भेद भी असंगत हैं। इस लिए हम मानव धर्म्मशास्त्र पद का लक्षण इस प्रकार करेंगे—"जो विद्या मनुष्य समाज में धर्म्मा-धर्म की विवेचना करके उसके सार्वभौम नियमों का प्रकाश करती है उसका **नाम मानवधर्म-शास्त्र है"** इस मानव-धर्म्म-शास्त्र का किसी देश वा जातिविशेष के साथ कोई विशेष संबन्ध नहीं हो सकता । इस के अन्तर्गत वही नियम आसकेंगे जिन में कि देशकाल और समय के भेद से भी कोई परिणाम नहीं आसकता। इस लिए किसी देश वा जातिविशेष की शासन-पद्धति इस शास्त्र के मूल नियमों में कोई परिवर्तन नहीं लासकती।

धर्म्म-शास्त्र के इस लक्षण व निर्वचन को समझाने के लिए शासन-पद्धति के आवश्यक पद का तात्पर्य समझाना आवश्यक है।

अध्याय दूसरा

शासन पद्धति का लक्षण

एक देश में आवश्यकतानुसार समय २ पर जो शासन के नियम बनते चले जाते हैं उनके समूह को शासन-पद्धति (Law) कहते हैं। भारतवर्ष में Law के नवीनभाव का English Government के साथ प्रवेश हुआ। संस्कृत शून्य अंग्रेज़ी न्यायाधीशों की पहली कल्पना यह थी कि शासन नियमों को विद्या की

रीति से भारतवर्ष ने कभी जाना ही नहीं। अभाग्यवश जो पण्डित आर्य धर्म-शास्त्रों की व्यवस्था अंग्रेज़ी न्यायालयों में देने के लिए नियत किए गए वे लोभी थे। प्रथम न्यायालय में १००) भेंट पाने पर जो व्यवस्था एक पक्ष में दी, अपील कोर्ट में ५००) घूस मिलने पर उसके ठीक विरुद्ध सम्मति देदी। इन्हीं परस्पर विरुद्ध सम्मतियों को देखकर संस्कृत शून्य अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष का नाम अर्द्ध शिक्षित देश रक्खा था; परन्तु अब वह सम्मति बदलचुकी है, और यहां तक बदली है कि महाशय **किशोरीलाल सरकार** के मीमांसा विषयक व्याख्यानों को पढ़ कर जर्मनी के प्रसिद्ध Jurist Baron Kallen ने यह मान लिया है कि धर्मशास्त्र विषयक विचारों को जहां तक मीमांसा द्वारा मुनि जैमिनि ने पहुंचाया है वहां तक यूरोप के Jurists कहीं अब ८ वा १० वर्षों से पहुंचने लगे हैं।

शासन-पद्धति के विचार से धर्म-शास्त्र के विचार तक पहुंचने के लिए यूरोप को बहुतसी शताब्दियों तक चक्कर काटने पड़े। इंग्लैण्ड में भी Law शब्द के लक्षण की यही गाथा है। सब से पहले जब कि प्रत्येक कुलका कुलपति ही एक मात्र राजा होता था तब कुल में शान्ति स्थिर रखने के लिए उसे कुछ नियम बनाने पड़ते थे। जब बहुत से नियम बन गये तो उनका नाम कुलमर्य्यादा वा कुल-शासन-पद्धति वा Family Law रक्खा जाता था। वहां पाहिले पहिल ज्ञात

हुआ कि एक नियम को Law का पद देने के लिए आवश्यक है कि वह **आज्ञासूचक** हो जिस के भंग करने के लिए कुछ दण्ड मिल सकता हो। इसके लिए यह भी आवश्यक हुआ कि आज्ञा देने वाला कोई शासक हो जो आज्ञा भंग होने की अवस्था में दंड भी देसके। यूरोप के क्रिश्चियन [Christian] शास्त्रज्ञों ने ईश्वरीय नियमों तथा मनुष्यकृत आज्ञाओं में भेद किया है और ईश्वरीय नियमों को Law की सीमा से बाहर कर दिया है और अब इस लिए उनका धर्म-ग्रन्थ दार्शनिक शासन-पद्धति के स्थान में कुछ असम्भव कथाओं का समूह है। परन्तु आर्य-मीमांसकों को ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई।

इंगलिश शासकों का किया अन्तिम लक्षण

शासन-शास्त्र के English ज्ञातायों में से Benthem पहला मनुष्य था जिसने विविध नियमों के अन्दर एक ही सिद्धान्त काम करता हुआ देखा। यद्यपि उसका आन्दोलन बड़ी गहराइ लिये हुए है तथापि Law (मानव शासन-पद्धति) का ठीक निर्वचन उस से न हो सका जिसे इंगलैण्ड के प्रसिद्ध Jurist *Austin* ने पूर्ण किया।

Austin का किया लक्षण

Austin के मत में Law उस आज्ञा का नाम है जो **किसी विशेष आचरण की विधि बतलावे**। ऐसी आज्ञाओं के समूह का नाम Code of Law रक्खा जाता है। ये आज्ञायें सिद्धान्त-रूप से ज्ञान रहित चेतन पुरुषों को सम्बोधन

करके ही कही जाती हैं। ये सिद्धान्त आज्ञा-रूप में प्रकट किये जाते हैं, इसलिये उस के न पालन करने के लिये अनुशासन भी नियत होता है; जो कभी २ दण्ड-रूप से भी प्रकट किया जाता है। फिर ऐसी आज्ञाएं किसी विशेष अवस्था वा घटना से सम्बन्ध नहीं रखतीं प्रत्युत अविशेष वा सार्वजनिक होनी चाहियें। Law के साथ Duty कर्तव्य का विचार लगा हुआ है। Austin के सारे विचार का सारांश वर्तमान समय के अपूर्व आंगल Jurist J.E. Hollend ने इस प्रकार वर्णन किया है:—

"Laws, therefore, in the vague sense of rules of human action, are propositions commanding the doing or abstaining from, certain classes of actions; disobedience of which is followed, or is likely to be followed by some sort of penalty or inconvenience". (Holland's Jurisprudence edition II P. 20)

मीमांसाकार जैमिनि का निर्वचन

जैसा कि पहले वर्णन हो चुका है चिरकाल तक पाश्चात्य Jurists का यही मत रहा कि भारतवर्ष के स्मृतिकार Law के उन अर्थों से परिचित न थे जो कि रोम से शिक्षा लेकर English Jurists ने शताब्दियों के पश्चात् निकाले। परन्तु जब योरोपियन संस्कृतज्ञों ने पूर्वमीमांसा-शास्त्र का अध्ययन किया और जर्मन विद्वानों ने जैमिनि की विद्वत्ता के आगे शिर झुकाया तब भारतीय Biritish Government ने भी मीमांसा-दर्शन की आलोचना कराना आवश्यक समझी। सन्

१९०५ ई० में Calcutta University के आधीन कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रसिद्ध वकील किशोरीलाल सरकार M.A. ने मीमांसा-शास्त्र के नियमों को हिन्दू-धर्म्म शास्त्र पर लगाने के विषय में व्याख्यान दिये। सन् १९०९ ई० में उन सब व्याख्यानों को पुस्तकाकार छपवाया गया। यद्यपि सरकार महाशय योरोपियन संस्कृतज्ञों की छाया से नहीं बच सके तथापि उन्होंने यह सिद्ध करने में बड़ा स्वतन्त्र विचार किया है कि जिस परिणाम पर Austin और Holland आज पहुंचे हैं उस पर जैमिनि ऋषि सहस्रों वर्ष पहले पहुंच चुके थे। वे लिखते हैं:—

सब से पूर्व जैमिनि के ग्रंथ ने मीमांसा के विषय को दर्शन Philosopy विद्या सिद्ध किया और इस लिए, वही व्याख्या का वैज्ञानिक प्रकार समझना चाहिए। इस महान् ग्रन्थ का उद्देश्य और विषय उसके आरम्भ में ही वर्णन किया गया है। संक्षेपतः उसका वर्णन पहले सूत्र को दूसरे सूत्र से मिलाने म ही वर्णित है। इन दोनों सूत्रों का Mr. Colebrooke ने इस प्रकार अनुवाद किया है:—

"अथातो धर्म जिज्ञासा अ० १। पा० १। सू० १॥
Now then the study of duty is to be Commenced.
"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" ॥अ०१। पा० १। सू०२॥
Duty is a purpose which is inculcated by the command." जैमिनि के इन दोनों सूत्रों का भाव यह है कि मनुष्य का धर्म बतलाने वाली श्रुति अर्थात् वेद है। तब धर्म वह

है जिसकी वेद आज्ञा देता है। वह आज्ञा दो प्रकार की होती है। एक 'विधि" दूसरा 'निषेध'। उसी वेद की, विधि निषेध रूप आज्ञा का पालन, मनुष्य का धर्म है। और उसकी व्याख्या करना मीमांसाकार का उद्देश्य है। आर्यावर्त के प्रथम धर्मशास्त्रकार मनु ने स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि स्मृतियों में भी विधि-निषेध की व्यवस्था मिलती है, तथापि स्मृति का वहीं तक प्रमाणिकत्व है जहां तक कि वह वेद के अनुकूल धर्म का उपदेश करती है। मनु महाराज कहते हैं:—

"वेदोऽखिलो धर्म मूलं, स्मृतिशीले च तद्विदाम्";

फिर स्पष्ट लिखते हैं:—

या वेदबाह्याः स्मृतयो, याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ताः निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता
मनु० । अ० १२ । श्लोक ९५ ॥

Austin ने Law का यह लक्षण किया कि:— "A Law is a command which obliges a preson or persons, and obliges generally to acts or forbearances of a class. In language more popular but less distinct and precise, a Law is a command, which obliges a person or persons to a course of conduct." Austin के कथन का सारांश यह है कि Law उस आज्ञा को कहते हैं कि जो किसी पुरुष व पुरुषों को किसी विशेष आचरण के लिये

बाधित करे। सो Austin के इस लक्षण को मीमांसा अधिक स्पष्टता से बताती है। कभी २ मीमांसा की आलोचनाशैली को ईसाइयों के Bible के अर्थ करने की शैली Hermeneutics अर्थात् Method of interpretation of the Bible के साथ समानता करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे ईसाई-धर्म्म-पुस्तकों का अर्थ करने में Hermeneutics, Law की आज्ञा तक नहीं पहुंच सकता, इसी प्रकार वेद की व्याख्या करने वाले मीमांसा का भी Law से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जितना वेद और बाइबल में अन्तर है उतना ही दोनों के अर्थों के प्रकार में भी अन्तर है। जहां Hermeneutics की विधि में शब्दार्थ पर कुछ भी ध्यान न देते हुए केवल Bible की कहानियों को एक दूसरे से अविरुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, वैसी मीमांसा की विधि नहीं। मीमांसाकार शब्द को पहले लेता है और व्याख्या करते हुए शब्दार्थ पर से उसकी दृष्टि बिल्कुल नहीं चूकती। सारांश यह कि Hermeneutics की विधि न्यायदर्शन का उल्लंघन करके स्थापित की गई है; और मीमांसा की विधि ठीक शास्त्र मर्य्यादा के अनुकूल अर्थात् Philosophical है।

धर्म्म का 'चोदना' लक्षण करते हुए जैमिनि ने वेद से ही उसकी व्याख्या का मार्ग ढूंढा है। आर्य्यों की नित्य की उपासना में गायत्री का मुख्य स्थान है। और वहां उपासक प्रार्थना करता है "धियो यो नः प्रचोदयात्" यहां विधि है, आज्ञा है और विधि के विधायक का प्रकाश है।

मीमांसाकार और Austin के निर्वचन की समानता और आगे चलती है। Austin कहता है कि Law वह है जो किसी पुरुष व पुरुषों को सम्बोधन करके आज्ञा-रूप से कही जाय। वह आज्ञा उस पुरुष वा पुरुषों को किसी विधि वा निषेध का उपदेश करे, जिसके करने व न करने के लिये कुछ विशेष फल निश्चित हो। इस भाव को स्पष्ट करने के लिये जैमिनि का तृतीय सूत्र प्रवृत्त होता है:—

"तस्य निमित्त परीष्टिः। १। १। ३।"

वैदिक आज्ञा का पालन आवश्यक क्यों है? यह प्रश्न है। कौनसा कारण मनुष्य को बाधित करता है कि वेदाज्ञा का अवश्य पालन करे। इसका उत्तर अगले दो सूत्रों में दिया है:—

"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्ष निमित्तं विद्यमानोपलम्भनात् ।१।१।४। औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ १। १। ॥ ५ ॥"

जहां जैमिनि ने यह बतलाया है कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध प्रत्यक्ष से जाना नहीं जा सकता, प्रत्युत उसी के जितलाने के लिये श्रुति है। श्रुति में अपूर्व विधि है अर्थात् किसी

कर्म के करने वा न करने के लिये अलौकिक फल लिखा है, वही मनुष्य की धर्म में प्रवृत्ति का कारण है।

धर्म के साथ विधि का बड़ा भारी सम्बन्ध है। जिसमें प्रेरणा वा आज्ञा हो, और उस आज्ञा के भंग के लिये दण्ड नियत हो, उसे विधि कहते हैं। वह विधि दो प्रकार की है। जहां किसी कर्म के करने की आज्ञा के साथ उसके करने का कुछ फल भी निश्चित किया हो, उसे विधि कहते हैं; और जहां आज्ञा किसी काम के न करने की है और उस आज्ञा के अनुकूल न चलने पर दण्ड नियत है उसे निषेध कहते हैं।

उस विधि का प्रेरक क्या है? इस प्रकार विचार करते हुए मीमांसाकार कहते हैं 'अप्राप्तप्रापको विधिः'। यह विधि पाश्चात्य धर्म-शास्त्रज्ञों की समझ में अभी २०, २९ वर्षों से ही आई है; और अब भी कभी २ इसके वास्तविक तात्पर्य पर अर्थवाद और नामधेय की छाया पड़ जाती है।

Illustration, Explanation वा **अर्थवाद** उस वाक्य को कहते हैं जो कि विधि के अर्थों के किसी अंश पर विशेष प्रकाश डालता हो, वा उसका कोई दृष्टान्त देता हो वा उसका कोई लाभ प्रकाशित करता हो, परन्तु न उसका निषेध करे और न उसमें कोई वृद्धि करे। यदि वृद्धि करे तो नई विधि हो जायगी अर्थवाद नहीं रहेगा। इसको अंग्रेज़ी में Explanation वा illustration कहते हैं।

बहुत से पाश्चात्य धर्मशास्त्रज्ञ विधि और अर्थवाद को मिला देते हैं। विधि के साथ आज्ञा और उसके न पालन होने से फल का सम्बन्ध नित्य रहता है। अर्थवाद आज्ञारूप से होता नहीं, इसलिये उसके साथ फल (Sanction) का कोई सम्बन्ध नहीं।

नामधेय (General rules of definition) धर्म्मशास्त्र के उस भाग को कहते हैं जिसमें कि धर्म्म-शास्त्र में प्रयुक्त शब्दों के साधारण निर्वचन हों।

Law का भाव समझने के लिये निम्नलिखित विचारों में से गुज़रना आवश्यक है:—

(१) Law-giver होना चाहिये जो उस विशेष मनुष्य-समाज के लिये शासन पद्धति बनावे। चाहे वह ईश्वरीय आज्ञाओं से सहायता ले व प्राकृत-नियमों और समाज के इतिहास में आन्दोलन करे, आवश्यक यह है कि उन नियमों का किसी मनुष्य वा मनुष्य समूह से प्रादुर्भाव हो।

(२) जो नियम बनें वे सर्वसाधारण के लिये एक से हों।

(३) ये नियम अन्य पुरुषों की बाह्य चेष्टाओं के ही विषय के हो सकेंगे।

(४) नियम के न पालन करने पर कोई फल (Sanction) अवश्य नियत होना चाहिये।

(५) शासक में शक्ति होनी चाहिये कि नियम के तोड़े जाने की अवस्था में नियम तोड़ने वाले को फल दे सके।

अध्याय तीसरा

शासन नियमों के प्रकार

शासन-पद्धति Law का निर्भर विधि के ऊपर है जिसमें निषेध शामिल समझना चाहिये । इस विधि-युक्त शासन-पद्धति का नाम अंग्रेज़ी Lawyers ने Positive Law रक्खा हुआ है । उस Positive Law के निम्नलिखित ४ भेद हैं:—

1ST. Substantive obligatory rules (**उत्पत्ति-विधि**)
2nd. Applicatory rules (**विनियोग-विधि**)
3rd. Law of personal competency (**अधिकार-विधि**)
4rth. Rules of procedure (**प्रयोग-विधि**)

इन में से **उत्पत्ति-विधि** को ही ठीक प्रकार से प्रयोग में लाने के लिये अन्य ३ विधियां हैं। उत्पत्ति-विधि बतलाती है कि किन कर्मों के करने वा न करने के लिये राज-शक्ति प्रजा को बाधित कर सकती है ।

विनियोग-विधि यह बतलायेगी कि किन २ घटनाओं को उत्पत्ति-विधि के अन्दर ला सकते हैं । अधिकार-विधि का काम इन से भिन्न ही है । शासन नियमों का प्रयोग उन्हीं मनुष्यों पर हो सकता है जिनकी मानसिक दशा साधारण हो और जो मन और कर्म की स्वतन्त्रता रखते हुए जैसा चाहें कर सकें । अब एक उन्मत्त आदमी अपनी क्रिया के परिणाम को समझ नहीं सकता और यही दशा एक अबोध बालक की है । इसलिये आवश्यक है कि प्रजा का जो भाग शासन-नियमों को समझने के

योग्य न हो उन पर उनका प्रयोग न किया जाय । इसी लिये सभ्य जातियों में अधिकार-विधि सम्बन्धी विस्तृत नियम बने हुए हैं। यदि एक मनुष्य मद्य पीकर उन्मत्त हुआ बाजार में डोलता फिरे तो पुलिस पकड़ कर उसे हवालात में दे देती है और Police act के अनुसार थोड़ा सा दण्ड भी मिल जाता है। परन्तु यदि वही पुरुष उन्मत्त होकर विचार हीन होने की अवस्था में मनुष्य का घात भी कर देवे तो उससे फांसी नहीं मिलती। दोनों अवस्थाओं में यह भेद क्यों हुआ ? प्रथम अवस्था में मद्य पीने से पहले मद्यप जानता था कि उसका परिणाम बुरा हो सकता है। परन्तु दूसरी अवस्था में उसका मन और कर्म उसके आधीन नहीं रहा, इसलिये उसको प्राण-हरण का दण्ड नहीं मिल सकता, दूसरा दण्ड चाहे किसी प्रकार का ही मिले। प्रश्न हो सकता है कि शायद मद्यप ने दूसरे को मारने के लिये ही मद्य पिया हो, तो यदि मद्य पिए हुए होने के समय में उसकी क्रियाओं से पता लगता हो कि वह अपने कर्म के परिणाम को समझता है, तब उसे फांसी मिल सकती है। परन्तु केवल इस परिणाम पर कि इसके मन में क्या होगा कोई दण्ड नहीं मिल सकता। क्योंकि मनुष्य-कृत शासन-नियम वाह्य क्रियाओं के लिये बन सकते हैं न कि आभ्यन्तरिक विचारों के लिये। इसी लिये Austin ने कहा है कि:—

Positive Law Consists of the Totality of conditions

for which legislation (the act of making laws) is possible.

चौथी और अन्तिम **प्रयोग-विधि** (Rules of procedure) इस लिये बनाई जाती है कि जिन न्यायालयों में शासन-पद्धति के अनुसार न्याय होता है, उनके लिये विशेष नियम स्थिर कर दिये जायं।

अध्याय चौथा

प्रधान शासन-शक्ति

प्रत्येक राष्ट्र के दो भाग होते हैं। उनमें से एक को राजा और दूसरे को प्रजा कह सकते हैं। Law **उसे कहते हैं जो कि किसी राष्ट्र की प्रधान शासक-शक्ति से बनाए गए नियमों का समूह हो।** जब तक कि कोई प्रधान शासक शक्ति ऐसे नियमों को बना कर उनके प्रजा से मनवाने का अधिकार तथा शक्ति नहीं रखती, तब तक शासन के नियमों को Law का पद नहीं मिल सकता।

'प्रधान-शासक-शक्ति' इस वाक्य को समझने के लिये कई विशेष शब्दों का लक्षण जानने की आवश्यकता है।

राष्ट्र शब्द का प्रयोग प्रत्येक उस मनुष्य-समूह के लिये किया जाता है जो कि एक भाषा और एक प्रकार के जीवन व्यवहार में संगठित हो, जो कि कभी एक पुरुषाओं की सन्तान होने, कभी धर्म्म की एकता, वा ऐतिहासिक समानता, तथा एक

देश निवास का परिणाम होता है। यह नियम कभी २ टूट भी जाता है जब कि राज-नैतिक क्रांतियों के कारण विविध भाषाएं बोलने वाली जातियां भी एक राष्ट्र में ग्रन्थित हो जाती हैं। एक मनुष्यसमूह के राष्ट्र कहलाने के लिये इससे भी बढ़-कर यह आवश्यकता है कि उस राष्ट्र में कोई ऐसी सम्मिलित शक्ति नियत की जाय जो कि उस राष्ट्र के लिये शासन-पद्धति का निर्माण करे और जिसकी आज्ञा भंग करना अन्यों के लिये अधर्म समझा जाय।

प्राचीन यूनान में एक मनुष्य-समूह ही प्रधान शासक-शक्ति का काम देता था। एथन्स और स्पार्टा और अन्य यूनान के नगर जुदे २ राष्ट्र (States) समझे जाते थे। जब कभी किसी ऐसे State की वाह्य वा आभ्यन्तरिक स्थिति पर विचार करना होता तो ढंढोरा पीट कर सब आदमियों को Forum [चौमुहानी] में इकट्ठा कर उनके बहुपक्षानुसार निश्चित कर, काम चलाया जाता था। परन्तु जिस समय एक नगर की सीमा का उलंघन करके राष्ट्रों की स्थिति की गई तब प्रत्येक विचार के लिये एक देश के सब मनुष्यों का एक स्थान में एकत्रित होना असम्भव हो गया। उस समय सारी प्रजा के प्रतिनिधि वा प्रतिनिधियों की राजशक्ति बनाई जाने लगी। चाहे एक सत्तात्मक राज्य हो वा प्रजातन्त्र, सब में 'प्रधान शासक-शक्ति' अर्थात् Sovereign political authority की

आवश्यकता है। उसी से सारे Law का निर्माण समझा जाता है और वही उस Law की आज्ञा के भंग होने पर दण्ड देने का अधिकार रखता है।

राष्ट्र भी दो प्रकार के हो सकते हैं। Simple States वा अमिश्रराष्ट्र वे होते हैं जिन्हें अपने बाह्य सम्बंधों के लिये किसी अन्य राष्ट्र की अपेक्षा नहीं होती। यथा—इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रशिया इत्यादि। २य प्रकार के वे राष्ट्र हैं जो किसी राष्ट्र समूह (System of States) के उपविभाग हों। इनके भी फिर दो प्रकार हैं। एक वे जिन में सब विविध राष्ट्रों के समाधिकार हों—यथा United states of America. वा The Swiss Confederation। दूसरे वे जिन में अन्य राष्ट्र एक के आधीन हों—यथा British Empire। यहां कनेड़ा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका इत्यादि Colonies अपने वाह्य सम्बन्धों में British Home Government के आधीन हैं। इस दूसरे प्रकार के भी अन्तर्गत भारतवर्ष इत्यादि हैं जो कि अपने अन्तरीय सम्बन्ध (Internal relations) में भी स्वाधीन नहीं, प्रत्युत् British Home Government के आधीन है। इसलिये जहां कैनेड़ा, आस्ट्रेलिया आदि किसी अंश में स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं वहां भारतवर्ष को राष्ट्र कहना ठीक नहीं क्योंकि इसके राजप्रबन्ध में किसी स्वाधीन (Soverign political authority)

को स्थान नहीं मिल सकता। जिन देशों में वा जिन जातियों में अब तक कोई निश्चित Sovereign political authority नहीं है, उनमें चाहे रिवाज के बल से कोई ऐसे सामाजिक नियम भी प्रचलित हों, जिनका तोड़ना उस मनुष्य समाज में अधर्म समझा जाता हो, तब भी उसे राष्ट्र नहीं कह सकते।

अध्याय पांचवां

शासन-नियमों का स्रोत

वास्तव में *Law* उन्हीं का नाम है, **जो कि किसी राष्ट्र की 'प्रधान-शासक-शक्ति' से निर्माण किये गए हों**; परन्तु प्रश्न यह है कि जो कुछ भी 'प्रधान-शासक-शक्ति' (राज-शक्ति) नियम बना देवे, क्या उन्हीं को Law समझा जायगा। 'प्रधान-शासक-शक्ति' वा राजशक्ति का भाव प्रकट करने के लिये हम यहां केवल 'राजा' शब्द का प्रयोग करेंगे; तो क्या Law पर यही लोकोक्ति चरितार्थ होगी कि **'राजा करे सो न्याय ?'**

यद्यपि सब Law का श्रोत राजा ही समझा जाता है तथापि उसे भी राज-नियम बनाने में बहुत से अन्यसाधनों से काम लेना पड़ता है। एक मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता और इसलिये उसकी कल्पनाओं में भूल हो सकती है। इसलिये **जब तक कि वह अपनी कल्पनाओं के साथ ठीक प्रकार के प्रमाण तथा हेतु सर्वसाधारण के सन्मुख न रख सकें,**

तब तक प्रजा उन नियमों को ठीक प्रकार से मानने को तय्यार नहीं हो सकती। सृष्टि का लगभग ५वां भाग वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता है, परन्तु जिस समय आधी सृष्टि वेद पर विश्वास रखती थी उस समय भी उसकी आज्ञा को सर्व-मान्य सिद्ध करने के लिये दर्शनकार ऋषि को लिखना पड़ा—**बुद्धि-पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।** इसलिये यह जानना आवश्यक है कि राजा के लिये शासन नियमों के निर्माण करने के स्रोत कौन २ से हैं।

इन अर्थों में सब नियमों का स्रोत राजा होते हुए भी बहुत से साधन हैं जिनको कि राजा काम में लाता है।

(१) **धर्म्म**—हम सिद्ध कर चुके हैं कि Law को Science बनाने का सब से पहला शिक्षक जैमिनि हुआ है, और उसने वेद को ही परम-प्रमाण मानकर उसके अर्थात् वेद के शब्दार्थ की मीमांसा की है। इसी प्रकार पारसी, यहूदी, ईसाई और महम्मदी आदि जातियों ने भी अपने माने हुए धर्म्म-पुस्तकों को ही एक प्रकार से Law का source मान लिया था। परन्तु वर्तमान jurists (धर्म्म-शास्त्रज्ञों) के मतानुसार मतान्तरों के नियमों को "Law **का पद उस समय मिलता है जबकि किसी राष्ट्र की प्रधान राजनैतिक शक्ति उसे अपने शासक नियमों में स्थान देदेवे।**" आंगल-राज्य के आने

पर हिन्दुओं के धर्म्मशास्त्र और मुसल्मानों की कुरान तथा हदीस (मुहम्मद साहब की कहानियां तथा वार्तालाप) को Law का अधिकार नहीं मिला था, जब तक कि आंगल न्यायालयों ने हिन्दुओं और मुसल्मानों के लिये उनका प्रमाणत्व स्वीकार न किया।

(२) **रिवाज** (Custom).—आर्षग्रन्थों में भी सदाचार को धर्म्म-शास्त्र के निर्माण का एक साधन बताया है। पाश्चात्य देशों ने सदाचार की महिमा को समझा नहीं, इसलिये उन्होंने रिवाज को भी Law का एक श्रोत समझ लिया। रिवाज और सदाचार में बड़ा भेद है। रिवाज की उत्पत्तिको Mr. Holland इस प्रकार वर्णन करते हैं। **"एक आदमी मैदान में से अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये अकस्मात् रास्ता बनाकर चल देता है, दूसरे बिना कारण उसी लीक पर चलते रहते हैं और जब बहुत पैरचिन्ह पड़ जाने पर मार्ग का चिन्ह बन जाता है तो सभी उस मार्ग पर चलने लगते हैं।"**

Holland's jurisprudence
(P. 45 and 46)

किसी देश के राष्ट्र निर्माण से पूर्व इस प्रकार के अनगिनत रिवाज इकट्ठे होते रहते हैं, और जब वही देश एक राष्ट्र बन जाता है तो **उनमें से जो न्याय तथा धर्म्म के अनुकूल समझे जाते हैं उन पर** Law **का ठप्पा लगा दिया**

जाता है। वर्तमान पाश्चिमीय राष्ट्रों के Law का निर्भर Roman Law के ऊपर है। और Roman जाति ने अपनी शासन-पद्धति बनाते हुए जहां उस समय के प्रचलित धर्मशास्त्रों से काम लिया वहां बहुत से प्रचीलत रिवाजों को Law बना लिया था।

रिवाज को Law का श्रोत मानकर फिर उसके साथ विशेषण लगाने पड़े। अंग्रेज़ी न्यायालय किसी रिवाज को भी निर्णायक नहीं समझते जो कि Equity [धर्म] justice न्याय और Conscience आत्मसाक्षी के विरुद्ध हो। परंतु आर्यों के धर्म शास्त्रानुसार ऐसे विशेषणों की कोई ज़रूरत नहीं। वहां रिवाज, न्याय नियम का स्रोत नहीं; वहां सदाचार धर्म का श्रोत माना गया है। Europeon जातियों ने आचार शब्द के भाव को न समझ कर आर्य-धर्म शास्त्रों के गले भी रिवाज को मढ़ना चाहा है। भगवान मनुने आचार को परम-धर्म बतलाते हुए कहा है:—

"आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः"।

अ० १। ८ श्लोक ॥

अंग्रेज़ jurists ने आधे टुकड़े को छोड़कर पहले आधे पद का अर्थ किया है। "Immemorial CUSTOM is

transcendental Law" (Sir William jones का अनुवाद) पाश्चात्य jurists के मत में मनुष्यों के उस व्यवहार को Custom कह सकते हैं जिसे आरम्भ होते हुए किसी जीवित व्यक्ति ने न देखा हो, और इसी लिये उन्होंने आचार शब्द का अनर्थ कर दिया है। यदि इसी श्लोक के द्वितीय भाग को देखते तो उन्हें मालूम हो जाता कि मनुने परमधर्म का पद उस आचार को दिया है, जो श्रुति स्मृति के अनुकूल हो, चाहे आरम्भ आजसे ही उसका हुआ हो।

[३] **न्यायालयों का निश्चयः**—जिन विवादों के निश्चय के लिये कोई राज-नियम न हो, वा जो बातें सन्दिग्ध हों, उनका निर्णय प्रधान न्यायालयों को करना पड़ता है। ऐसे प्रधान न्यायालय का निश्चय नीचे के सब न्यायालयों के लिये प्रमाण रूप हो जाता है। उसको ही CASE LAW कहते हैं।

[४] **दार्शनिक विचारः**—धर्म शास्त्रज्ञ विद्वान् जीवन की विविध घटनाओं के ऊपर दार्शनिक विचार करते रहते हैं। उनसे भी न्यायालय विवादों का निश्चय करने के लिये सहायता लिया करते हैं। (Scientific discussion)

[५] **राजकीय धर्माज्ञाः—जब पुराने** शासन के नियम मनुष्यों के बढ़ते हुए सम्बन्धों की उलझनों के सुलझाने में अशक्त प्रतीत होते हैं तो राजा को अधिकार दिया जाता है कि

उसके आत्मा को जो ठीक धर्म प्रतीत हो उसी के अनुसार न्याय कर देवे। जब इस प्रकार के बहुत से निश्चय इकट्ठे हो जाते हैं तो उन के समूह का नाम "Rules of equity" रक्खा जाता रहा है। परन्तु एक सत्तात्मक राज्य में तो राजा सर्वथा दार्शनिक विद्वान नहीं होता, और प्रजातन्त्रात्मकराज्य में सारी प्रजा एक मामले का सुगमता से फैसला नहीं कर सकती, इस लिये एक विशेष विद्वान् अधिकारी चुन लिया जाता है जिसे राजशक्ति की आत्मा के संरक्षक का पद दिया जाता है। प्राचीन रोम में जिस व्यक्ति को यह अधिकार दिया जाता था उसका नाम Praetor [प्रेटर] था। जब कभी नया प्रेटर नियत होता तो वह घोषणा पत्रों द्वारा उन नियमों को मुद्रित कर देता जिन के अनुसार वह न्याय करना चाहता था। अन्त को उसके दिये हुए फैसलों का समूह शासन पद्धति के रूप से मुद्रित हो जाया करता था।

इंगलैण्ड में यह कार्य 'chancellor [चान्सलर] को सौंपा गया। उस को "Keeper of the King's conscience" की उपाधि दी जाती थी। इस पर भी बड़े २ शासन विद्या के प्रचारक न्यायाधीशों ने कटाक्ष किये। Lord सैलडन् ने कहा "Equity बहुत ही खचरी वस्तु है; Law के लिये हमारे पास कुछ कसौटी है हम जानते हैं कि हम किस पर निर्भर करें—

Equity Chancellor के अनुकूल हो जाती है और जैसा [उदार वा सङ्कुचित] वह है वैसी ही equity होती है ।

छटा- **शासन-नियम- निर्माण सभा** (Legislation) इन छहों में से न्यायालय—निर्मित-कानून case law तथा लैजिसलेशन निराधार Law के स्रोत हैं । लेजिसलेचर Leigslature तो Law बनाती है, परन्तु न्यायालय पुराने Laws की संपुष्टि करने के साथ बहुत से नये नियमों का भी प्रचार कर देते है ।

अध्याय छठा

मानव-धर्म शास्त्र का प्रयोजन

धर्म शास्त्र का प्रसिद्ध लक्षण यह है कि वह 'नियामक' है । नियम भंग की संभावना ही इस के निर्माण का कारण हुआ ।

यह ठीक है कि धर्म शास्त्र का कर्त्तव्य यही है कि मनुष्यों की स्वतन्त्रता को ऐसा नियमित करे कि एक दूसरे की स्वतन्त्रता की बाधक सिद्ध न हों, परन्तु धर्म-शास्त्र की सीमा इस से भी बढ़ कर है । मनुष्यों को अवनति से बचाने और उन्नति के मार्ग पर लेजाने के लिए जितने भी नियम बनाने पड़ें, वे सब ही धर्म-शास्त्र की परिधि में आ जाते हैं—यथा शिक्षा सम्बन्धी विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों आदि के निर्माण

करने वाले नियम । इस लिए यह कहना युक्त है कि धर्म-शास्त्र का काम इतना मनुष्यों की स्वाभाविक निच्छङ्खल स्वतन्त्रता को रोकना नहीं है जितना उसकी शक्तियों के विकाश में सहायता देना है । तब धर्म-शास्त्र केवल पुलिस—एक्ट तक ही सीमित नहीं है परन्तु उसका प्रयोजन यह है कि "न केवल मनुष्यों के अधिकारों का निश्चय और निर्माण ही करे, प्रत्युत उनकी रक्षा का भी प्रबन्ध करे।"

अधिकार Rights

तब प्रश्न यह होता है कि **शास्त्र-निर्मित अधिकार** क्या है ? परन्तु इस से भी पहले यह जानना चाहिए कि **अधिकार** किसे कहते हैं ।

एक मनुष्य का किसी वस्तु वा किसी कर्म पर अधिकार कहने का तात्पर्य यह है कि **लोकमत** (public opinion) उस के उस अधिकार को प्रयोग में लाने का अनुमोदन करेगी और यदि कोई मनुष्य उस में बाधा डालेगा तो उस पर अप्रसन्नता प्रकट करेगी । इस लिए अधिकार एक लाभ है जो, अधिकारी में रक्षा की शक्ति न होते हुए भी, उसे प्राप्त होता है ।

शास्त्र-निर्मित-अधिकार उन का नाम है जो किसी राष्ट्र की प्रधान-शासक-शक्ति की ओर से प्रजा को दिए गए हों, और उनके रक्षण में राष्ट्रका सारा बल लगाया जा सके । जिस प्रकार स्वाभाविक [सामाजिक] अधिकार को प्रयोग में लाने का बल समाज से मिलता है इसी प्रकार शास्त्र निर्मित अधिकारों के

उपभोग के लिए बल संगठित समाज—अर्थात् राष्ट्र— से मिलता है। तब शास्त्र—निर्मित अधिकार का श्रोत राष्ट्र ही है। अब 'अधिकार' से क्या तात्पर्य है इस को स्पष्ट जान लेना चाहिए।

[१] यदि एक मनुष्य केवल अपनी ही मानसिक वा शारीरिक शक्ति से अपनी इच्छाओं को पूरा करा सक्ता है तो यह भले ही कहें कि उस में अपनी इच्छाओं को पूरा कराने की शक्ति (Might) है, परन्तु यह नहीं कह सक्ते कि उसे अपनी इच्छाएं पूरी कराने का अधिकार है।

[२] यदि अतिरिक्त इस के कि उसमें अपनी इच्छा पूरी करने की शक्ति है वा नहीं, किसी मनुष्य की इच्छा पूरी करने को साधारण समाज [जनमति] अनुमति की दृष्टि से देखता है तो कहा जायगा कि वह उसका धार्मिक अधिकार है। परन्तु

(३) यदि, धर्मा-धर्म का विचार छोड़ कर, राष्ट्र उस की इच्छाओं को पूरा करने में अपनी सारी शक्ति लगाने को तय्यार है तो कहा जायगा कि उस मनुष्य को, उस विषय में, शास्त्र विहित अधिकार अर्थात् legal rights प्राप्त हैं।

मानव-शासन पद्धति का उद्देश्य यह निश्चय कर देना है कि किन अवस्थाओं में एक अधिकार की रक्षा में राष्ट्र की सारी शक्ति लग सक्ती है।

कर्त्तव्य Duties

प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य स्वभावतः लगा हुआ है। यदि एक पुरुष को कुछ करने का वा किसी वस्तु पर अधिकार है तो साथही अन्य मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वह उस के अधिकार में बाधा न डालें; इसी को कर्त्तव्य कहते हैं। अधिकार की न्याई ही यदि कर्तव्य का निर्भर व्यक्ति वा लोकमत पर हो तो उसे व्यक्तिगत वा लोक-मतावलम्बित कर्तव्य कह सकते हैं। परन्तु जिस कर्तव्य का आधार राष्ट्र-निर्मित शास्त्र पर हो उसे शास्त्र-विहित कर्तव्य कहेंगे।

शासनपद्धति और अधिकार

जब प्रत्येक अधिकार के साथ संगत कर्तव्य लगा हुआ है और प्रत्येक कर्तव्य के साथ संगत अधिकार होना आवश्यक है तो शासन पद्धति का विचार करते हुए हम किसी एक [अधिकार वा कर्त्तव्य] से आरम्भ कर सक्ते हैं; यह स्थिति अवश्य होनी चाहिए कि जिस एक से आरम्भ किया जाय, सारी पद्धति में उसी का प्रयोग किया जाय। आंगल धर्म-शास्त्रकार प्रायः अधिकार के अन्तरगत ही सारा कानून [Law] करलेते हैं, अतः हम अधिकार का ही विमर्श करेंगे।

धर्मशास्त्र की विधि का तात्पर्य यह है कि यदि राष्ट्र की आज्ञानुसार काम न होगा तो राष्ट्र स्वयम् ही वा प्रार्थना होने पर, अवश्य नियम पालन कराने के लिए हस्ताक्षेप करेगा। इसी को धर्मशास्त्र का अनुशासन (Sanction of law) कहते हैं। किसी शास्त्र विहित अधिकार के टूटने पर राष्ट्र की ओर से दण्ड

ही नहीं दिया जाता,अपितु कई अवस्थाओं में अधिकार का पुनः स्थापन भी किया जाता है। परन्तु फिर भी दण्ड का भय ही है जो दुष्टों को राज नियम (शास्त्राज्ञा) के भंग करने से रोकता है। तब अनुशासन ही है जो धर्म-शास्त्र को स्थिर रखता है। मनुभगवान ने क्या अच्छा कहा है—

सराजा पुरुषो दण्डः सनेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्म स्यप्रतिभूः स्मृतः॥
दण्डःशास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभि रक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

(मनु० अ० ७। श्लो० १७, १८)

"वह दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है और वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के कर्म का ज़ामिन है। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है। [सब के] सोते हुए दण्ड ही जागता है; विद्वान् लोग 'दण्ड' को 'धर्म' जानते है।"

तब धर्मशास्त्र संगठित लोकमत है जो बतलाता है कि राज शक्ति किन अधिकारों की रक्षा करेगी और यह भी जतलाता है कि इन अधिकारों की रक्षा वह किस प्रकार करेगी। रष्ट्र के अधिकार निर्वाचन का परिणाम जो नियम हैं उन्हें 'उत्पत्ति विधिः' Positive Law कहते हैं, और उन नियमों की आज्ञा पालन कराने के लिए जो नियम राज शक्ति की ओर से बनाए जाते हैं उन्हें "विनियोग विधिः" Adjective Law कहते हैं।

सातवां अध्याय

अधिकार का व्यवच्छेद।

हमने देखा कि न्यायानुसार (सामाजिक) अधिकार ऐसी अवस्था का अस्तित्व सिद्ध करता है जिस के कारण एक प्रकार का आचरण जनता की अनुमति लिए हुए सदाचार कहाता है और उस से विरुद्ध आचरण, लोकमत से दूषित, अत्याचार समझा जाता है। और शास्त्र-निर्मित अधिकार वहां कहा जाता है जहां राष्ट्र की ओर से उस के उपयोग का समर्थन तथा उस का रोकना वर्जित किया गया हो।

अब यह विचार करना है कि अधिकार कितने अवयवों का परिणाम हुआ करता है। वे अवयव निम्नलिखित हैं:—

[१] **एक मनुष्य** जिस में अधिकार रहता है वा जिस को उस अधिकार के अस्तित्व से लाभ पहुंचता है।

[२] कई अवस्थाओं में **वस्तु** जिस पर अधिकार का प्रयोग होता है।

[३] **कर्म वा परिहार** जो अधिकारी दूसरों से करा सक्ता है।

(४) **एक मनुष्य** जिस से कर्म वा परिहार कराया जासक्ता है अर्थात् जिस के ऊपर अधिकार है, वा अधिकारी के लाभ के लिए जिसे कर्म वा परिहार करना पड़ता है।

यहां देखा जाता है कि इस क्रम में प्रथम तथा अन्तिम अवयव पुरुष हैं। दूसरा प्राकृतिक पदार्थ है (यदि कोई हो),

और तीसरा कर्म वा परिहार जो चौथे अवयव में वर्णित पुरुष करने के लिए बाधित है। सुगमता के लिए अधिकारी को 'अधिष्ठाता पुरुष', बाधित को 'बाधित पुरुष', वस्तु को 'अर्थ' और कर्म वा परिहार को 'कर्म' कहेंगे।

दो दृष्टान्तों में घटाने से यह मामला साफ़ हो जायगा——

(क) लक्ष्मण (जिस के कोई पुत्र नहीं) अपनी कमाई से खरीदे मकान की वसीयत अपनी पुत्री के पुत्र के नाम कर गया और उस वसीयत की तामील अपने मित्र देवदत्त के सपुर्द कर गया। यहां 'पुत्री का पुत्र' अधिकारी, 'मकान' अर्थ, 'मकान का उस को देना' कर्म और 'देवदत्त' बाधित पुरुष है।

(ख) दूसरा दृष्टान्त लीजिए जहां 'अर्थ' का अभाव है। 'तेजसिंह' का नौकर 'बारू' है। यहां तेजसिंह 'अधिकारी' है, बारू 'बाधित पुरुष' है तथा उचित सेवा 'कर्म' है जिस का तेजसिंह अधिकारी है।

इन चारों अवयवों में परिवर्तन होने से अधिकार का स्वरूप बदल जाता है, और अधिकार के रूपान्तरों के कारण ही धर्मशास्त्र मुख्य भागों में विभक्त किया जाता।

अधिकार के इस व्यवच्छेद में दो पुरुष, अर्थ और कर्म सम्मिलित हैं। यह तभी तक है जब तक कि अधिकार स्थिर है। परंतु यदि अधिकार को हिलाया जावे तो नई अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं जो केवल पुरुषों के कर्मों का ही परिणाम नहीं होतीं प्रत्युत

जिस में दैवी घटनाएं भी शामिल होती हैं। इन के लिए 'घटना' शब्द प्रयोग में लाया जायगा।

अधिकार का उपभोग कर्मों वा अवस्थाओं द्वारा होता है और कर्म पुरुष करते हैं; इस लिए आधिकार का तत्व और उस के उपभोग की विधि जानने तथा उस की उत्पत्ति, संक्रमण तथा विनाश को समझने के लिए—(१) पुरुष, (२) अर्थ और (३) कर्म [जिस में दैवी घटनाएं भी शामिल हैं] के सम्बन्ध में स्पष्ट भाव मालूम हो जाने चाहिएं।

१—पुरुष

'पुरुष' शब्द में स्त्री जाति भी शामिल है, अर्थात् इसका प्रयोग 'मनुष्य' शब्द के स्थान में किया गया है। पुरुष वही नहीं जो अधिकारी हो परन्तु जिन के विरुद्ध अधिकार का प्रयोग होता है वह भी पुरुष ही होते हैं—अर्थात् अधिकारी तथा बाधित दोनों पुरुष ही होते हैं।

वैसे तो पुरुष, मनुष्य को ही कहते हैं परन्तु धर्म-शास्त्रानुसार पुरुष के दो भेद हैं; एक स्वाभाविक पुरुष, दूसरे कृत्रिम पुरुष—अर्थात् राज नियमानुसार किसी जनसमूह वा पदार्थ को भी पुरुष कल्पना कर लिया जाता है यथा—कोई न्याय निर्मित वा रजिस्टर्ड सुसाइटी वा किसी मन्दिर की मूर्त्ति इत्यादि।

स्वाभाविक पुरुष के लिए आवश्यक है कि (१) वह जीवित उत्पन्न हुआ हो (यद्यपि उसके अधिकार कई अवस्था में गर्भ से बाहर आने से पहले ही आरम्भ हो जाते हैं)

(२) राज-शक्ति ने उसे स्वतन्त्र पुरुष मान लिया हो अर्थात् दास बन कर अपने राज नीतिक अधिकार खो न बैठा हो अथवा सन्यास ग्रहण करके व्यवहारिक मृत्यु को न प्राप्त हो चुका हो। इन दो विशेषणों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि प्रमादादि के कारण अनाधिकारी न बन चुका हो, वा स्वयम् अपने अधिकार न छोड़ चुका हो। बाल्यावस्था इत्यादि के कारण कई प्रकार के अधिकारों तथा कर्तव्यों से एक पुरुष मुक्त भी रहता है और उसके कारण उसके व्यक्तित्व में भेद भी आजाते हैं—परन्तु ऊपर लिखित दो विशेषणों से युक्त होने पर एक मनुष्य स्वाभाविक पुरुष कहलाता है।

कृत्रिम पुरुष उन [१] जनसमूह वा [२] पदार्थ समूह को कहते हैं जिन्हें राज नियमानुसार पुरुष मान लिया गया हो। इन्हें Juristic Person कहते हैं। ये कृत्रिम वा राज-निर्मित्त पुरुष तब उत्पन्न होते हैं, जब किसी जन-समूह वा पदार्थ समूह का अस्तित्व हो और साधारण वा विशेष राज-नियमानुसार उन्हें पुरुष मान लिया जाय। साधारण नियमानुसार सब म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्टबोर्ड, सब रजिस्टर्ड सुसाइटियां इत्यादि पुरुष हैं तथा विशेष राज नियमानुसार विविध विश्वविद्यालय [Universities] विशेष आज्ञापत्रों द्वारा पुरुष निर्माण किए जाते हैं जो अपने चुने हुए अधिकारियों द्वारा मामले कर सकते हैं।

जो कृत्रिम पुरुष किसी जन-समूह से बनाया गया हो उसकी समाप्ति तब होती है जब [१] उसकी जन-संख्या कम हो जाय, [२] जब शासक-शक्ति उसका दिवाला निकाल दे, [३] जब राज-सभा उस के अधिकार छीन ले, वा (४) जब वह जन-समूह स्वयम् अपने अधिकार लौटा दे।

२—अर्थ

अर्थ अधिकार के 'विषय' को कहते हैं। ये दो प्रकार के होंगे। एक प्राकृतिक अर्थ और दूसरा न्याय निर्मित्त अर्थ—यथा पुस्तक, यन्त्र, कला इत्यादि के अधिकारादि। 'अर्थ' शब्द का यह द्वितीय भाव प्राचीनकाल से चला आया है। इस 'कल्पित अर्थ' को न्याय नियमानुसार सीमावद्ध किया गया है अर्थात् ऐसे अधिकार-समूह को ही अर्थ कल्पना किया गया है जो किसी प्राकृतिक पदार्थ पर प्रयोग में लाए जा सकें। अर्थ के भेद, अवस्था भेद से, कई प्रकार किए जाते हैं। चर Movable और अचर immovable का भेद इस विचार से है कि एक को तो अधिकारी इधर उधर ले जासकता है—यथा रुपया, आभूषण इत्यादि—और दूसरा हिलाया नहीं जा सकता—यथा भूमी, मकानादि। फिर मकाम मुख्य अर्थ है तो उसका परनाला किसी स्थान में खोलने का अधिकार गौण अर्थ है; इत्यादि। 'अर्थ' के और भी कई भेद हो सकते हैं यथा मकान एक अर्थ है तो बकरियों के एक समूह को एक अर्थ कहेंगे। एक ज़मीन्दार के पास

बीस ग्राम तथा अन्य पन्द्रह ग्रामों में कुछ कुछ भाग हों, परन्तु उसकी सारी सम्पत्ति को एक ही अर्थ कहेंगे। सारांश यह कि जिस पर भी अधिकार प्रयोग में लाया जा सके, उसे 'अर्थ' कहेंगे।

३—घटना

घटना में कर्म तथा दैवी घटना दोनों शामिल हैं। घटनाएं दो प्रकार की हो सक्ती हैं—[१] आधिभौतिक [२] आधि दैविक; इन्हीं में कालादि की गति भी आजाती है। पर इन में अधिकारी वा बाधित पुरुष की मानसिक वृत्ति का कुछ भी दख़ल नहीं होता। परन्तु 'कर्म' विना मानसिक शक्ति की प्रेरणा के हो ही नहीं सक्ता। जब तक कोई कर्म मानसिक विचार रूप में अन्दर ही रहे, उसके साथ राज-शासन-पद्धति का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जब अन्दर से बाहर निकल कर वे मानसिक विचार वाह्य जगत में परिणाम उत्पन्न करने लगें तब उस के साथ शासन-पद्धति का सम्बन्ध होता है। तब कर्म उस मानसिक निश्चय को कहते हैं जो वाह्य जगत में परिणाम उत्पन्न करे। इसको सहस्रों वर्ष पहले आर्य-धर्म शास्त्रज्ञों ने इस प्रकार वर्णन कर दिया है:—

"यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचावदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणाकरोति तदभि सम्पद्यते"

'मनुष्य जिस का मन से ध्यान करता है उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसी को कर्म से करता [और] जिसको कर्म से करता उसी को प्राप्त होता है।' जब तक वि-

चार कर्म में परिवर्तित नहीं होता तब तक वह धर्मशास्त्र का विषय नहीं होता। तब कर्म के तीन अवयव हुए---[१] इच्छा की चेष्टा, [२] चेतनता का प्रादुर्भाव और [३] उस इच्छा का बाह्य प्रकाश।

१. इच्छा—इस शब्द पर दार्शनिक विचार की यहां आवश्यकता नहीं। इच्छा उस अन्तरीय अवस्था को कहना पर्याप्त होगा, जिसका परिणाम सदैव क्रिया होती है। तब एक कृत्रिम पुरुष में क्रिया का भाव नहीं मान सकते।

२. चेतनता—इच्छा से केवल शारीरिक नाड़ियां हिलती हैं, परन्तु परिणाम वह निकलता है जिस ओर ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति हो। तब इच्छा के साथ ज्ञान मिलकर जो परिणाम उत्पन्न करे उसी पर धर्मशास्त्र का शासन होता है। यह चेतनता वा ज्ञान विविध पुरुषों में विविध अवस्थाओं में देखा जाता है। पागल पुरुष में चेतनता का सर्वथा अभाव समझा जाता है। बालकों, अर्द्ध पागलों इत्यादि में चेतनता अपूर्ण समझी जाती है और इसी लिये ऐसे पुरुषों के संरक्षक नियत किए जाते हैं।

कभी कभी क्षणिक अचेनता हो जाती है—यथा मद्य पीकर स्वपनावस्था में, और कभी अविद्या-वश भी अनृत व्यवहार हो जाता है—यथा काला कम्बल पहिने जाड़े से ठिठरे हुए आने वाले को चोर समझ कर गोली मार दी जाती है। इन अवस्थाओं में धर्मशास्त्र कर्त्ता को उस के कर्म के पूरे फल से मुक्त कर

देता है, परन्तु इस लिए कोई पुरुष दण्ड से मुक्त नहीं किया जासकता कि उसे धर्मशास्त्र का ज्ञान नहीं। प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र की शासन-पद्धति को जाने। जिस प्रकार अपने आलस्य प्रमाद के कारण ईश्वरीय ज्ञान को न जानता हुआ पुरुष ईश्वराज्ञा भंग करने पर दण्ड से नहीं बचसकता, उसी प्रकार राष्ट्रकी शासन पद्धति से अनभिज्ञता राज दण्ड से छुटने का हेतु नहीं होसकती। जो कर्म अकस्मात् हो जाते हैं उन में यदि यह सिद्ध हो जाय कि अधिक सावधानी से उस कर्म का फल समझा जासकता था तो उसे प्रमाद का परिणाम कहेंगे और उसके लिए थोड़ा दण्ड भी दिया जाता है। परन्तु यदि वही कर्म कोई अन्य पुरुष बलात्कार से कराले तो वह अपराध न समझा जायगा। बलराम राइफ़ल [बन्दूक] सामने करके मारने की धमकी देकर यज्ञदत्त को बाधित कर देता है कि वह एक जालसाज़ी का दस्तावेज बना दे; यहां यज्ञदत्त अपराधी नहीं समझा जासकता।

३. इच्छा का बाह्य प्रकाश—जब कर्त्ता की इच्छा के अनुकूल क्रिया होती है तभी उस को कर्म कहते हैं। यदि उस इच्छा के अनुकूल क्रिया का प्रादुर्भाव किसी प्रतिनिधि द्वारा कराया जाता है तो उस का भी उत्तर दाता मुख्य पुरुष ही होता है। प्रतिनिधि किसी एक काम के लिए हो सक्ता वा एक प्रकार के सब कामों के लिए। इच्छा के बाह्य प्रकाश पर ही धर्म शास्त्र

का विस्तार निर्भर है और यहीं इसका ठीक तात्पर्य समझ में आएगा।

आठवां अध्याय

अधिकार के मुख्य वर्ग।

अधिकार के अनेक वर्ग हो सकते हैं, जिन में चार मुख्य हैं। उनका निर्भर—

(१) सम्बाधित पुरुषों के व्याक्तिक वा राष्ट्रीय स्वरूप पर,

[२] सम्बंधित पुरुषों की साधारण वा असाधारण परिस्थिति पर,

[३] बाधित पुरुषों के परिमित वा अपरिमित विस्तार पर, वा

[४] कर्म के स्वयम् कर्त्तव्य होने वा अन्य कर्म के बदले होने पर, है।

'अधिकार' के इन वर्गों का एक दूसरे से सीधा कुछ सम्बन्ध न हो फिर भी ये एक दूसरे से बंधे हुए हैं। एक ही घटना में एक दूसरें से असम्बांधित दीखते हुए भी इन का एक दूसरे से सम्बन्ध होकर कई वर्गों में अधिकार का विभाग हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्गिक कर्म के साथ उस का निषेध भी लगा हुआ है, इसलिए इन वर्गों में उनकी भी गणना हो जाती है। परन्तु जिस [वर्ग] विभाग क्रम से अधिक परिणाम निकल सकें, धर्मशास्त्रकार उन्हीं से काम लेते हैं।

प्रथम विभाग पुरुषों के व्यक्तिक वा राष्ट्रीय स्वरूप पर निर्भर है। राष्ट्रीय पुरुष से तात्पर्य संगठित राष्ट्र उसकी प्रधान शासक शक्ति से है और व्यक्ति पुरुष से एक मनुष्य वा मनुष्यों के समूह से है जो कि राष्ट्र का एक समूह होते हुए भी राष्ट्र का प्रतिनिधि न हो। जब किसी अधिकार के पुरुषरूपी दोनों अवयव व्यक्तिक हों तब अधिकार व्यक्तिक कहलाएगा। यदि इन दोनों पुरुषों में से एक राष्ट्र है तो अधिकार राष्ट्रीय कहलायगा। इसी विभाग से शासन-नियम दो प्रकार के हो जायंगे—[१] व्यक्तिक नियम, [२] राष्ट्रीय नियम। इस प्रकार (Law of Contracts) परिग्रह, चर और अचर सम्पत्ति (Law of real and personal proprty) इच्छा-पत्र, दायाधिकार और हरजाने के क़ानून जहां व्यक्तिक क़ानून में जा पड़ेंगे, वहां सब व्यवस्था सम्बन्धी, फ़ौजदारी और राज-प्रबन्ध के नियम [असाधारण] राष्ट्रीय क़ानून की परिधि में आजायंगे। ज़ब राष्ट्र के अधिकार और कर्त्तव्य दोनों समझ लिए जायं तो स्पष्ट हो जाता है कि Public Law का एक जुदा अस्तित्व होगा।

द्वितीय विभाग सम्बन्धि पुरुषों की साधारण वा असाधारण परिस्थिति पर निर्भर है। कुछ ऐसी अवस्थाएं भी आती हैं जब अधिकार का निर्णय करते समय तत्सम्बंधी पुरुषों की परिस्थिति पर ध्यान रखना पड़ता है—अन्य अवस्थाओं में ऐसा करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी भेद पर अवलम्बित शासन-

नियमों का विभाग (१) पुरुषों और (२) वस्तुओं की शासन-पद्धती में हो जाता है। अधिकार का विचार करते हुए हमने उसे चार वर्गों में विभक्त किया था—यहां दोनों [प्रथम और अन्तिम] पुरुषों को एक वर्ग में लेकर 'अर्थ' और 'कर्म' का दूसरा वर्ग 'वस्तु' नाम से नियत कर दिया जाय, तो शासन-पद्धती के विचार में बहुत सुगमता हो जाती है। यद्यपि शासन-पद्धती के पुरुषों और वस्तुओं के सम्बन्ध की दृष्टि से दो भाग करने में अर्थ ज्ञान में कुछ अनिश्चिता होती है परन्तु क़ानून के विभाग करने में सुगमता भी होती है। किन्तु यदि [१] साधारण और [२] असाधारण विभाग करके शासन-पद्धती पर विचार करें तो सब कर्म किसी न किसी विभाग में अवश्य आजाते हैं। परन्तु धर्म-शास्त्र के निम्नलिखित तीन विभाग करने से कोई भी अंग धर्म-शास्त्र का ऐसा नहीं रहता जो किसी न किसी विभाग के अन्दर न आजाए। वे बड़े विभाग ये हैं:—व्याक्तिक शासन-नियम् (Private Law), राष्ट्रीय-शासन-नियम् (Public Law), राष्ट्रानां-परस्पर-व्यवहारिक-नियम् (International Law)—

(१) **व्याक्तिक नियम** में सर्व पुरुष तथा वस्तु सम्बन्धी नियम आजायंगे जिन में दोनों (अधिकारी तथा बाधित) पुरुष शासक—विभिन्न पुरुष हैं।

(२) **राष्ट्रीय-शासन-नियम** में एक पुरुष अवश्य राष्ट्र

होगा जिस में राष्ट्र की बनावट और प्रवन्ध सम्बन्धी सब नियम रहें। इसी के अन्तरगत सारा फ़ौजदारी का क़ानून होगा। फ़ौजदारी का जो भी अभियोग किसी व्यक्ति के विरुद्ध चलाया जाता है, यद्यपि उस अभियोग का अपराधी किसी अन्य प्रजा पुरुष के सम्बन्ध में अपराध करता है परन्तु समझा यही जाता है कि उसने राष्ट्र को हानि पहुंचाई और इस लिए ऐसी अवस्था में राष्ट्र की प्रधान-शासक-शक्ति को अभियोगिन् (मुद्दई) लिखा जाता है और अभियुक्त को दण्ड दिलाना राष्ट्र का ही कर्त्तव्य समझा जाता है।

(३) **राष्ट्रानां परस्पर-व्यवहारिक-नियम** में राष्ट्रों के परस्पर युद्ध समय के व्यवहार तथा संधि समय में परस्पर के व्यापार सम्बन्धी तथा अन्य सान्धि पत्रों के शासन सम्बन्धी सर्व नियम आजाते हैं।

हम शासन-पद्धति को इन तीन बड़े विभागों में विभक्त करके ही, उनके अन्तर्गत जो उपविभाग आते हैं, उनका संक्षिप्त बरणन करेंगे; परन्तु ऐसा करने से पहले एक अधिकार के हिलाने [काम में लाने] पर जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उस पर विचार हो जाना उचित है।

—०—

नवां अध्याय

अधिकार की स्थावर और जंगम अवस्था

"अधिकार" दो रूपों में देखे जा सक्ते हैं। जब तक एक अधिकार स्थिर है—उस का स्थावर रूप है—तब तक शासक के लिए केवल उसके स्वरूप और परिमाण को ही देखने की आवश्यकता है; परन्तु जब वह अधिकार स्थावर को छोडकर जंगम अवस्था में आता है-अर्थात् उसे काम में लाया जाता है—तब शासक को उसकी उत्पत्ति और समाप्ति के कारणों पर भी विचार करना जरूरी हो जाता है। यदि 'भूमि' की मालकियत का झगडा है तो 'भूमिहार' के विविध अधिकारों पर ही विचार नहीं करना होता प्रत्युत विविध प्रकार की मालकियत में भी भेद करना पडता है।

स्थावर अधिकार

जो अधिकार अभी स्थिर है उस के विषय में केवल इतना ही जानना पर्याप्त है कि उस अधिकार से अधिकारी को क्या क्या लाभ पहुंचते हैं, और इसी से पता लग सकता है कि उसके भंग से अधिकारी को क्या हानि पहुंचेगी। तब कानून ऐसे नियम बना देगा जिससे अधिकार में बाधा डालने से जनता को रोका जा सके। इसमें भी अपराध के दर्जे हो जायंगे। जहां जान बूझ कर अधिकार को दबाया गया है वहां अपराधी के लिए प्रतिक्रिया का और विधान होगा तथा जहां केवल प्रमाद से किसी दूसरे के अधिकार में बाधा डाली गई है वहां प्रतिक्रिया भी अन्य प्रकार

की होगी। परन्तु जब 'बाधित पुरुष' पागलपनादि अवस्था में हो वा दूसरे के दबाव से काम करे तो कई अवस्थाओं में यह भी मालूम होगा कि जो क्रिया उसने की है वह न्याय दृष्टि में कर्म ही नहीं है। फिर यह भी हो सकता हो कि जिस क्रिया को अधिकार में विघ्न डालने का कारण समझा गया हो वह उसका वास्तविक कारण ही न हो, वा अधिकारी अपना अधिकार छोड़ बैठा हो, वा उसका अधिकार छिन चुका हो वा परोपकार की दृष्टि से उसके अधिकार को स्थिर रखना उचित न हो। यह कुछ दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जायगा।

१—कृष्ण घोड़े पर जा रहा है। पास से खड़खड़ाता हुआ छकड़ा निकला; घोड़ा भड़क कर बेबस होगया और उसकी लातों से दो आदमियों को चोट आई और एक कुंजड़े का सौदा मिट्टी में मिल गया। यहां कृष्ण अपराधी नहीं है।

२—मनोहर ने एक बम्ब का गोला देवदत्त पर फेंका, देवदत्त ने उसे पकड़ कर राम पर चला दिया और राम ने आगे चेतन पर फेंका जहां फट कर गोले ने चेतन को घायल किया। यहां यह फैसला करना कठिन होगा कि राम अपराधी है और मनोहर निरापराध है। फिर लल्लू किसान का बैल उसके प्रमाद के कारण रेल की सड़क पर बहक गया और एन्जन के नीचे कट गया। इस प्रकार के कई दृष्टान्त दिए जा सकते हैं जहां असल अपराधी का निश्चय कठिन होता है।

३—किसी के घर में प्रवेश करना वर्जित है, परन्तु यदि एक मनुष्य को दूसरे के घर में प्रत्येक समय प्रवेश के लिये आज्ञा मिल चुकी हो तो अनुचित समय में प्रवेश करने से भी वह अपराधी नहीं ठहरता।

४—एक मनुष्य चोरी करने के लिए किसी घर में रात को घुस गया। यदि गृहपति लठ से चोर का सिर तोड़ कर गिरादे तो वह अपराधी नहीं क्योंकि चोरी का कर्म आरम्भ करते ही चोर ने अपनी शारीरिक रक्षा का अधिकार खो दिया।

९—साधारण अवस्था में किसी किसान के खेत में से गुज़रना दण्डनीय है। परन्तु यदि राजकीय सड़क विशेष कारण से बन्द हो तो खेत में होकर चलना दण्डनीय नहीं रहता।

अधिकार की जंगम अवस्था

जब कोई अधिकार हिलाया जाय तो नई अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। सब अधिकार प्रधान-शासक-शक्ति द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। या तो राज किसी स्वाभाविक वा कृत्रिम व्यक्ति को सीधा अधिकार देता है—जैसे किसी राज सेवक को जागीर वा किसी विश्वविद्यालय को प्रमाण-पत्र (charter) अथवा एक ऐसा नियम बना देता है जिसके अनुसार काम करने वालों को बिना किसी विशेष क्रिया के, एक विशेष अधिकार प्राप्त हो जाता है।

अधिकार की समाप्ति कई प्रकार से होती है। परन्तु इसके मुख्य दो ही प्रकार हैं—[१] अधिकारी की इच्छा से, [२] अधिकारी की इच्छा के बिना ही। यदि एक भूमि का मालिक अपनी भूमि को बेच दे वा दान देदे तो उस के अधिकार की समाप्ति उसकी इच्छा से कही जायगी। परन्तु जब वही भूमि मालिक के किसी अपराध के कारण जब्त करली जाय तो अधिकार की समाप्ति अधिकारी की इच्छा के बिना ही हो जाती है। इसके अतिरिक्त अधिकारी की प्राकृतिक अथवा व्यवहारिक मृत्यु

पर भी उसका अधिकार, बिना उसकी इच्छा के ही, समाप्त हो जाता है।

यह तो स्पष्ट समझ में आजाता है कि एक व्यक्ति के मरने पर उसके अधिकार, सम्पत्ति में, समाप्त हो जाते हैं और उसका धर्म-शास्त्रोक्त उत्तराधिकारी, उसकी इच्छा के विरुद्ध भी, उसकी सम्पत्ति का मालिक हो जाता है। परन्तु आधुनिक काल में यह समझना कठिन है कि संन्यासाश्रम में प्रवेश करने से एक मनुष्य की व्यवहारिक मौत हो जाती है और वह किसी अर्थ का मालिक नहीं रह सकता। यह आर्य-वर्त्त देश ही त्याग प्रधान देश था और इसमें संन्यास की प्रथा बड़ी श्रेष्ठ थी। सर्व-मेधयज्ञ कर के ही यहां के ब्राह्मण संन्यास के अधिकारी बनते थे, और सारी जनता को धर्म-पथ पर चलाने का भार लेते हुए भी प्रलोभनों से अपने आप को मुक्त रखते थे। परन्तु आज दशा ऐसी बदली हुई है कि संन्यास का वह उच्च आदर्श लोग समझ नहीं सकते। संन्यास नाम ही सर्व-त्याग का है और भारतवर्ष में घरबारी संन्यासियों के अतिरिक्त मठ-धारी और लाखों की सम्पत्ति के मालिक संन्यासी विद्यमान हैं। तब आज व्यवहारिक मृत्यु के अर्थ कौन समझ सक्ता है। परन्तु समय आरहा है जब संन्यासाश्रम फिर से अपने उच्चासन पर स्थित होगा, और न्याया-लयों की चारदीवारी में किसी भी संन्यास नाम धारी को देखना नसीब न होगा।

इस प्रकार अधिकार की दोनों [स्थावर और जंगम] अवस्थाओं पर विचार करने के पश्चात् शासन-पद्धति के तीन बड़े विभागों के मुख्य विषयों को हम नियम-बद्ध कर सकते हैं।

(२) **राष्ट्रों के पारस्परिक उत्पत्ति तथा विनियोग नियम।** इस भाग में वे नियम होंगे जो प्रत्येक संमिलित राष्ट्र की स्वतन्त्रता और कीर्ति की रक्षा तथा अन्य राष्ट्रों पर उस के अधिकार की सीमा बतलाएं और यह भी जतलाएं कि किन अवस्थाओं में अपने राष्ट्र की प्राकृतिक सीमा से बाहर जाकर भी उस राष्ट्र की प्रजा को अपने राज के आधीन रहना पड़ता है।

[३] **युद्ध समय के नियम।** जिस समय समझा जावे कि दो राष्ट्रों में युद्ध की अवस्था उत्पन्न होगई है, इसके निवटाने के क्या ढंग हैं; और यदि राज़ीनामे से छुटकारा न हो तो युद्ध में किन किन कार्यों को न करना चाहिए—इन सब विषयों के नियम इस बिभाग के अन्तर्गत आजायंगे।

[४] **तटस्थ राष्ट्रों सम्बन्धी नियम।** इस विभाग में यह निश्चय करना होता है कि दो राष्ट्र दलों में युद्ध के समय तटस्थ राष्ट्र अपने व्यापार में कहां तक स्वतन्त्र हैं। इसी के अन्तरगत उन राष्ट्रों की भूमि तथा सम्पत्ति की रक्षा भी ... जाती है।

मानव धर्म शास्त्र के सम्बन्ध में बड़े भागों ... विभागों का संक्षिप्त वर्णन कर के अब ... जाता है कि क्या ठीक शासन-पद्धति के ... के चलाने वाले नियामकों के निय... और शान्ति का राज्य आजाये ... उन्नति के पथपर चल ... धर्म की शरण में जा...

दसवां अध्याय

व्यक्तिक शासन-पद्धति।

व्यक्तिक शासन नियमों का प्रथम विभेद दो भागों में विभक्त किया जासकता है:—

(१) उत्पत्ति नियम (Substantive Law) अर्थात् वे नियम जो अधिकारों का निर्वाचन करें,

(२) विनियोग नियम जो उपरोक्त के प्रयोग में लाने की विधि बतलावें अर्थात् Adjetive Law.

उत्पत्ति नियमों में, जतलाए अधिकार साधारण असाधारण पुरुषों से सम्बन्धित होंगे, और वा साथ ही पीछे दोनों समयों में उनके रूप में भेद आएगा। इसी विचार से उत्पत्ति नियमों के बहुत से भेद हो जाते हैं। उन को नीचे लिखे छ: बड़े भागों में विभक्त किया जासकता है:—

(१) व्यक्तिक रक्षा तथा स्वतन्त्रता के अधिकार- प्रत्येक प्रजा-तन्त्र राज में जन्म लेते ही प्रत्येक व्यक्ति को रक्षा और स्वतन्त्रता के अधिकार प्राप्त होते हैं। किसी हदतक एक सत्तात्मक राष्ट्र में भी ये अधिकार जन्म से ही प्राप्त होते हैं। परन्तु लड़कपन में इन पर कुछ बन्धन होता है। भारतवर्ष में ही आधुनिककाल के अन्दर स्त्रियों को परतन्त्र कर दिया गया था। यह रक्षा का अधिकार मनुष्य कभी स्वयम् छोड़ देता है, यथा कुश्ती, कन्दुक क्रीड़ादि में यदि चोट लगे तो उसके लिए

अभियोग नहीं चलाया जासकता । इसी शीर्षक के नीचे राष्ट्र की प्रत्येक प्रजा का अधिकार है कि उस पर किसी हस्तादि की चेष्टा से भी आक्रमण न किया जाय, उसको बलात्कार से धक्का तक भी न दिया जाय, उसको घायल वा अंग-हीन न किया जाय, उस के स्वतन्त्र भ्रमण में विघ्न न डाला जाय, उस को किसी पशु आदि द्वारा क्षति न पहुंचाई जाय और प्रमाद से भी उसे कुछ हानि न पहुंचाई जावे । अधिकार तो प्रत्येक मनुष्य का यह है कि उस का प्राणान्त न कर दिया जाय, परन्तु इस अपराध के होचुकने पर मृत पुरुष का अस्तित्व ही नहीं रहता—तब अधिकार को प्रयोग में कौन लावे । ऐसी अवस्था में राज ही अभियोग करने वाला होता है ।

(२) अपने गृहस्थ के शासन तथा सत्सङ्ग का अधिकार—(१) विवाह से स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के सम्बन्ध में कई विशेष अधिकार ही उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत् एक दूसरे के सम्बन्ध में नए कर्त्तव्यों से भी बाधित हो जाते हैं। राष्ट्र की जैसी धार्मिक अवस्था होगी वैसे ही विवाह के नियम बनेंगे । मुसलमानों और हिन्दुओं में पुरुष बहु-विवाह कर सकता है, अंग्रेज़ों और मुसलमानों में कई कारणों से एक दूसरे के जीवन में सम्बन्ध टूट सकता है परन्तु वेदोक्त आर्ष-प्रथा के अनुसार विवाह एक आत्मिक सम्बन्ध है जो इस जन्म में टूट नहीं सकता । इन सब के झगड़ों के निवटाने के लिए नियम बनाने

पड़ते हैं, फिर सन्तान उत्पन्न होने पर नए सम्बन्ध और नए अधिकार तथा कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। माता पिता हीन बालकों का अपने संरक्षकों से विशेष सम्बन्ध होता है। इस समय सभ्य संसार से दासत्व की प्रथा उठ गई हैं नहीं तो दास और स्वामी के सम्बन्ध में नियम बनाने पड़ते थे। इस समय दासों के स्थान में केवल भृत्य ही रहगए हैं।

(३) **प्रत्येक मनुष्य को अपनी वास्तविक प्रतिष्ठा स्थिर रखने का अधिकार है**—राज को नियम बनाना पड़ता है कि यदि किसी मनुष्य की प्रतिष्ठा को, कोई दूसरा लेख, वाणी द्वारा वा अंगों की चेष्टा से हानि पहुंचावे तो उसे दण्ड दिया जावे। इस क़ानून को Law of Defamation कहते हैं। परन्तु विशेष अवस्थाओं में एक मनुष्य के सम्बन्ध में सच्ची बात कहना अपराध नहीं समझा जाता। यदि एक धर्म-प्रचारक वा डाक्टर व्यभिचारी हो तो उसकी संगत से बचाने के लिए उसके व्यभिचार दोष को प्रकट करना अपराध नहीं रहता।

(४) **राष्ट्र के प्रत्येक सभासद् का अधिकार है कि जो अधिकार उसे प्रजा होने के कारण प्राप्त हैं उनसे उसे वंचित न किया जाय।** किसी को स्वतन्त्र आजीविका से रोका नहीं जासकता न शाही सड़क पर चलने औ नदीपार करने से हटाया जासकता है और न न्यायालाओं से न्याय प्राप्त करने से वंचित किया जासकता है।

(५) प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है उसकी आर्थिक सम्पत्ति पर भी दूसरा आक्रमण न करे। इसी रक्षा के लिए स्थावर और जंगम सम्पत्ति के सम्बन्ध में बड़े विस्तृत क़ानून बने हैं। बेचने, गिरवी रखने के क़ानूनों के अतिरिक्त, ज़मीन्दार और कृषिकार के सम्बन्धों के बड़े पेचीदा क़ानून बनाने की ज़रूरत होती है। फिर यह निर्णय करना भी बड़ा कठिन होता है कि स्थावर सम्पत्ति को आधीन करने के क्या अर्थ हैं। परन्तु सम्पत्ति में केवल स्थावर और जंगम अर्थ ही नहीं गिने जाते, उसके अन्तरगत पुस्तकों और अविष्कारों का स्वामित्व भी आजाता है। स्थावर सम्पत्तियों से सम्बन्धित जो अन्य अधिकार हैं उनका वर्णन भी इसी के अन्तरगत आ जाता है। इसी लिए इस विषय पर प्रत्येक राष्ट्र में अधिक पुस्तकें लिखी जाती हैं।

(६) प्रत्येक पुरुष का अधिकार है कि उसे कोई दूसरा धोखा देकर न ठग ले। यद्यपि ठगा गया पुरुष स्वयम् अपनी सहमति प्रकट करके धोखा खाता है, परन्तु राजानियमानुसार उसकी सहमति स्वतन्त्र नहीं समझी जाती। किसी को बन्दूक दिखा कर एक हुन्डी पर हस्ताक्षर कराले ने से वह हुन्डी ठीक नहीं हो सकती।

उत्पत्ति नियमों के अन्तरगत जितने भी अधिकार गिनाए गए हैं उतने ही कर्तव्य भी साथ होते हैं और उनके सम्बन्ध में भी उतने ही नियम बनाने की आवश्यकता पड़ती है।

न्यायालयों की सुगमता के लिए कई विषयों के अधिकार और कर्त्तव्य सम्बन्धी नियम इकट्ठे भी कर दिये जाया करते हैं। इस लिए किसी राष्ट्र की शासन-पद्धति में अधिकार और कर्त्तव्यों के नियम, मानव-धर्म-शास्त्र की तरह जुदे जुदे ढूंढ़ने का परिश्रम नहीं करना चाहिये। शासन-पद्धति के निर्माता भी, दर्शन शास्त्रकारों की न्याईं, जानते हैं कि आदर्श-नियम विभाग सांसारिक कर्मक्षेत्र के अन्दर शुद्ध अवस्था में नहीं मिल सकते। दर्शनकार जहां पांच तत्त्वों का वर्णन करते हुए **"गन्धवती पृथिवी"** बतलाते हैं, वहां संसार में उसका दर्शन करते हुए लिखते हैं:—"रूप रस गंध स्पर्शवती पृथिवी"। इसी प्रकार धर्म-शास्त्रकार भी जानते हैं कि यद्यपि अधिकार और कर्तव्य दो जुदे जुदे नियम हैं, परन्तु उनकी क्रियात्मक मीमांसा के लिए उनको एक दूसरे के साथ मिला देने की आवश्यकता होती है।

प्रतिक्रिया के नियम का क्रमशः विकाश।

अधिकार और तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य के नियम बना कर यदि प्रधान-शासक-शक्ति चुप कर रहे तो उन से राष्ट्र को कुछ भी लाभ नहीं। राष्ट्र की स्थिति तथा उन्नति के लिए आवश्यक है कि अधिकार टूटने की अवस्था में उसकी प्रतिक्रिया के भी नियम बनावें। ये नियम भी कई प्रकार के होंगे। जब तक राष्ट्र का संगठन किसी देश वा जाति में न हो तब

तक प्रति-क्रिया अधिकारी के हाथ में होती है। परन्तु यदि वाधित पुरुष की अपेक्षा अधिकारी पुरुष निर्बल हो तो न्याय की सम्भावना ही नहीं। और यदि अधिकारी, वाधित पुरुष की अपेक्षा, बलिष्ट भी हो तब भी भय रहता है कि क्रोध-वश हो कर वह प्रति-क्रिया की सीमा का उलंघन न कर जाय। एक पठान ने किसी कनौजिए के चौंके में पैर रख दिया। कनौजिए ने गालियों की बौछाड़ झोंक दी। पठान की समझ में नहीं आता कि मामला क्या है और वह अत्यन्त क्रोध-वश होकर तलवार का तुला हुआ हाथ लगाता है और कनौजिए का सिर भुट्टासा उड़ा देता है। यहां अपराध से सहस्र गुना बढ़ कर दण्ड मिला। परन्तु यदि यही अभियोग न्यायालय में जाता तो क्रोध ठन्ढा पड़ कर पठान को स्वयम् सोचने का अवसर मिलता और शान्त न्यायाधीश कनौजिए को थोड़ा दण्ड देकर छोड़ देता।

एक जाति में सभ्यता की उन्नति और राष्ट्र के संगठन का बड़ा भारी चिन्ह यह है कि उसकी प्रधान-शासक-शक्ति विविध-प्रकार के (दीवानी, फ़ौजदारी, माल और शिक्षा सम्बन्धी) न्यायालय स्थापित कर देवें। तब अधिकार-भंग के प्रतिकार का काम सुगम हो जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति का पूरा समय मिलता है।

न्यायालय, अधिष्टाता पुरुष तथा वाधित पुरुष में, नया सम्बन्ध

उत्पन्न करा के नया उत्तर दातृत्व पैदा कर देते हैं । न्यायालय कई प्रकार से अधिकारों की रक्षा करते हैं। कहीं तो अधिकारी को अपने अधिकार की रक्षा करने में जो दण्ड बाधित पुरुष को देना पड़ता है उसी को उचित प्रमाणित किया जाता है । कहीं अधिकार-भंग करने की तय्यारी सुनकर ही कार्य रोक दिया जाता है । प्रायः अधिकार-भंग होने पर नया अधिकार न्यायालय उत्पन्न करा देते हैं, यथा-मंगल ने कल्लूमल से ५००) ऋण में लेकर १) सैंकड़ा सूद का तमस्सुक लिख दिया, ऋण न चुकने पर कल्लूमल ने न्यायालय में दावा कर दिया । तमस्सुक सिद्ध हो जाने पर कल्लूमल को असल और सूद की डिगरी मिल गई । अब कल्लूमल को नया अधिकार मिल गया । वह अदालत का अधिकारी साथ लेकर विना कोई और सबूत दिये मगंल की सम्पत्ति अपने ऋण चुकवाने के लिए नीलाम करा सक्ता है। कई अवस्थाओं में अधिकारी को अधिकार-भंग का बदला रुपयों के रूप में दिला दिया जाता है। मनुष्य को वा सम्पत्ति दोनों को हानि पहुंचने पर हरजाने के दावे होसक्ते हैं। यदि झगड़ों के निबटारे के लिए काल की कोई सीमा न बांधी जाय तो मानवी झगड़े कभी समाप्त ही न हों। इस लिए मियाद के क़ानून भी न्यायालयों की सहायता के लिए बनाए जाते हैं । एक और कारण झगड़ों को काल बद्ध करने का है। मानवी साक्षियां चिरकाल में नष्ट हो जाती हैं । जो मनुष्य अपने अधिकार की रक्षा में सावधान नहीं रहा उस को न्याया-

लय क्या सहायता दे सक्ते हैं ! परन्तु काल की सीमा भी वस्तु भेद से बांधी जाती है। चर सम्पत्ति के झगड़ों के लिए प्राय: तीन वर्ष में दावा करने से सुनाई होती है परन्तु अचर सम्पत्ति के झगड़ों के लिए प्राय: काल सीमा १२ वर्षों की होती है।

असाधारण व्याक्तिक नियम

व्यक्तिक-शासन-पद्धति के अन्तरगत ही व्यक्तियों सम्बन्धी असाधारण नियम भी आजायंगे। मानव-धर्मशास्त्र का कोई भी अंग क्यों न ले वें, उसमें मनुष्य शब्द से वह साधारण पुरुष ही लिया जाता है जो जीवित हो और अपने अधिकार किसी कारण से खो न बैठा हो; परन्तु ऐसी अवस्थाएं आजाती हैं जब कि एक पुरुष किसी कारण से अपने अधिकारों को सर्वथा, वा किसी अंश में, खो बैठता है; अथवा किसी जन-समूह को एक पुरुष कल्पना कर लिया जाता है। ऐसी अवस्था में असाधारण शासननियम बनाने पड़ते हैं। यथा :—

(१) कृत्रिम [कल्पित] पुरुषों की अवस्था सब से बढ़कर असाधारण है। क्या प्रत्येक जन-समूह जमा करके अपने को एक पुरुष कल्पना कर सक्ता है ? यदि कोई जन-समूह ऐसा कर भी ले तो जब उनका झगड़ा न्यायालय में जायगा, तब न्यायाधीश उनके व्यक्तित्व को मानने से इनकार करेंगे। इस लिए कृत्रिम पुरुष की उत्पत्ति प्रधान-शासक-शक्ति की किसी सामान्य वा विशेष आज्ञा से ही हो सक्ती है। राज-शक्ति निश्चय करती है कि कम से कम कितने पुरुषों के मिलने से [भारतीय वृटिश

राज-नियम के अनुसार उनकी संख्या ७ है] एक कृत्रिम पुरुष बन सकता है। जैसे कि पहले लिखा जा चुका है, सभासदों की उस संख्या में कमी होने पर उक्त कृत्रिम पुरुष (रजिस्टर्ड सुसाइटी) की समाप्ति हो जाती है। कृत्रिम पुरुष का स्वाभाविक [सामान्य] पुरुष से ही भेद नहीं प्रत्युत अन्यजन-समूहों से भी भेद है। जहां प्रान्तिक आर्य प्रतिनिधि सभायें अपने नियत मुख़्तारों द्वारा न्यायालयों में कार्यवाही करा सकती हैं, वहां राजनियमानुसार रजिस्टर्ड न होने के कारण स्थानीय आर्यसमाजें तथा अन्य सोशल तथा पुलिटिकल सभाए न्यायालयों की दृष्टि में कोई स्थिति नहीं रखतीं।

सारांश यह कि कृत्रिम पुरुष रूपी सुसाइटियों के पारस्परिक तथा अन्यों से सम्बन्धित असाधारण नियम बनाने पड़ते हैं।

[२] स्त्रियों के विषय में सम्पत्ति-नियमों का, पुरुषों की अपेक्षा, कुछ भेद होता है। विवाह से भी कई जातियों में स्त्रियों के अधिकारों में भेद आता है।

[३] युवा अवस्था से पहले भी व्यक्ति के कई अधिकार सोए रहते हैं और ऐसे सुकुमारों की संरक्षतादि के प्रश्न हल करने पड़ते हैं।

[४] विवाह के कारण स्त्री पुरुष के परस्पर विशेष सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। उनके लिये विशेष नियम बनाने पड़ते हैं।

[५] जो स्त्री वा पुरुष आजन्म ब्रह्मचारी रहें उनके सम्बन्ध में भी विशेष नियम, किसी किसी राष्ट्र में, बनाए जाते थे।

[६] पागलों के साथ कहां तक व्यवहार हो सक्ता है, और उनकी क्या जिम्मेवारी है?

[७] बहरे वा गूंगे पुरुष कहां तक कारोबार कर सक्ते हैं?

[८] विशेष पुरुष अपने अधिकार के कारण साधारण शासन नियमों के आधीन नहीं होता—यथा राजा और मध्यकालीन भारत में जन्म के ब्राह्मण। इस समय भी लड़ाई में गए सिपाहियों के विशेष अधिकार हैं।

[९] दासत्व की प्रथा जब तक संसार में प्रचलित थी तब तक उनके विषय में भी विशेष नियम बनते थे। अब भी जो भारत निवासी फ़ीजी, मारिशस, दक्षिण अफ्रीकादि में "कुली" बना कर ले जाये जाते हैं, उन के सम्बन्ध में भी विशेष नियम बने हुए हैं। भारत निवासियों पर कुली-प्रथा के आधार पर जो अत्याचार हो रहे हैं उन को दूर करने के लिए कुलीप्रथा को उड़ा देने की आवश्यकता को "बृटिश इण्डियन गवर्नमेन्ट ने भी स्वीकार कर लिया है।"

[१०] दुनियादारी छोड़ने की अवस्था में व्यवहारिक मृत्यु कल्पना करने के सम्बन्ध में विशेष नियम।

[११] जारज-सन्तान के अधिकार तथा अनाधिकार।

[१२] धर्म से पतित पुरुषों के लिए भी विशेष नियम बनाए जाते थे।

ऊपर लिखित सर्व अवस्थाओं के लिए विशेष नियम बनाना आज कल के राष्ट्र अपना अधिकार समझते हैं।

व्यक्तिक-नियमान्तरगत, विनियोगविधि

उत्पत्ति-विधि के अन्तरगत अधिकारों की उत्पत्ति और समाप्ति के नियम भी बन गए, अधिकार-भंग की प्रतिक्रिया भी बतला दी गई और साथ हीं प्रति-क्रिया के कार्य में लाने के लिए न्यायालय भी बनएग; तब **"विनियोग-विधि"** की आवश्यकता होती है। सब से पहले न्यायालयों की प्रान्तिक सीमा नियत होगी। एक ही न्यायाधीश सारे देश में काम नहीं कर सक्ता। तब राष्ट्र को तहसीलों, जिलों, कमिश्नरियों और सूबों (बड़े प्रान्तों) में बांटना होगा। अधिकार-भंग होने पर अधिष्ठाता पुरुष न्यायालय को किस विधि से हिलावे, न्यायालय के सामने साक्षी कैसे लाए जावें, कैसे साक्षी ली जावे और फिर न्यायाधीश के अन्तिम निश्चय की तामील कैसे कराई जावे, अभियोग का व्यय किस पर पड़े— इन सब के लिए नियम बनाने होंगे। फिर न्यायाधीश भी मनुष्य हैं, अज्ञान वा आत्मिक निर्बलता के कारण वह अन्याय कर सक्ते हैं। उनके फैसलों की पड़ताल के लिए अपील-कोर्ट बनाए जाते हैं और फिर सारे प्रात के लिए एक बड़ा अपील का न्यायालय है जिसे हाईकोर्ट कहते

हैं। जैसे उत्पत्ति-विधि साधारण तथा असाधारण पुरुषों के लिए जुदी जुदी है, इसी प्रकार विनियोग–विधि के नियम भी, साधारण और असाधारण, दोनों प्रकार के होंगे।

ग्यारहवां अध्याय-

राष्ट्रीय-शासन-नियम।

व्यक्तिक-शासन-नियमों के साथ भी राष्ट्र का सम्बन्ध है, परन्तु वहां राष्ट्र साक्षी तथा नियामक के रूप में प्रकट होता है। राष्ट्रीय-शासन-नियमों में राष्ट्र स्वयम् पक्षी वा प्रति-पक्षी होता है। व्यक्तिक और राष्ट्रीय पद्धतिओं में यही बड़ा भारी भेद है। इस पद्धति में भी उत्पत्ति-विधि के नियमों के साथ विनियोग-विधि के नियम भी लगे रहते हैं। जिस प्रकार व्यक्तिक और राष्ट्रीय नियमों में भेद है उसी प्रकार उनके विभाग भी जुदे जुदे विचार से किए जाते हैं। इन में सब से पहले:——

(१) **राज व्यवस्थापक नियम पद्धति** है। इसका मुख्य प्रयोजन राष्ट्र के संगठन का स्वरूप बतलाना है। प्रधान-शासक–शक्ति का निर्माण कैसे किया जाता है, उस के विविध विभागों के अधिकार और कर्त्तव्य क्या हैं, और उन कर्त्तव्यों और अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है—ये सब व्यवस्थापक नियमों के अन्तरगत आजाते हैं। एक-सत्तात्मक राज्य हो चाहे प्रजा-तन्त्र राज्य हो , प्रधान-शासक-शक्ति कौन-

सी है—इसका पता लगाना आवश्यक हो जाता है। फिर उस प्रधान-शक्ति का चुनाव होगा वा उसका अधिकार पैत्रिक होगा, और दोनों अवस्थाओं में विनियोग-विधि क्या होगी; प्रधान-शक्ति के अधिकार क्या होंगे; यदि उसकी कोई मंत्रिन्-सभा है तो वह कैसे नियत की जाय; सचिव दल के क्या अधिकार होंगे; प्रजा की अन्तरीय तथा वाह्य रक्षा के लिए अन्तरीय तथा वाह्य सेना का प्रबन्ध कैसे होगा; प्रजा को क्या अधिकार दिए जायंगे; न्यायालयों की स्वतन्त्रता की कैसे रक्षा होगी—इन सब प्रश्नों का हल इस पद्धति से होगा। फिर इसी के अन्तरगत राज की सीमा तथा प्रजात्व का निर्णय भी होगा। तब स्वभावतः यह निर्णय करना भी इसी पद्धति का कर्त्तव्य होगा कि किन कारणों से एक प्रजा के सभासद का अधिकार छीना जा सकता है।

(२) राज-शासन-पद्धति। प्रधान-शासक-शक्ति तथा उसके अवयवों का वर्णन तथा उनके अधिकारों का निश्चय निरर्थक होगा, यदि उन अधिकारों के काम में लाने की विधि न बतलाई जाय, तथा उन अधिकारों के प्रयोग में लाने से जो नए अधिकार तथा कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं उनका निरूपण न किया जाय। यह काम राज-शासक-पद्धति का है। जो राज-नियम प्रधान-शासक-शक्ति बनाती है उस के अनुसार काम कराना, शासक-पद्धति के अनुसार चुने हुए अहलकारों का कर्त्तव्य है। राष्ट्र के विविध अवयवों के चलाने के लिए कर वसूल करने,

भूमीस्थ तथा सामुद्रिक और अन्तरिक्षीय सेना का निर्माण करना, उपनिवेशों का प्रबन्ध और सर्वप्रकार की राष्ट्र-रक्षा और उन्नति का काम इसी पद्धति द्वारा दृढ़ होता है।

(३) **दण्ड–पद्धति**। राष्ट्री-शासन-पद्धति का सबसे अधिक लाभदायक तथा उसको सफल करने वाला अंग दण्ड नियमों का ठीक वर्ताव है। प्रजा की रक्षा राजा का मुख्य कर्त्तव्य है और इस रक्षा के काम में दण्ड से ही बड़ी सहायता मिलती है। सब प्रजा और सब राज-पुरुष सोते हैं उस समय भी दण्ड ही जागता है; अर्थात् दण्ड के भय से ही दुष्ट पुरुष कुकर्मों से, अधिक अवस्थाओं में, बच जाते हैं। भारत-दण्ड-संग्रह आदि नियमावलियां इसी विभाग के अन्तरगत हैं। यह विचार कि प्रजा के शरीर और सम्पत्ति को हानि पहुंचाने से केवल उस व्यक्ति को ही हानि नहीं पहुंचती है, प्रत्युत राज की भी यत्किञ्चित क्षति होती है, भारतवर्ष में बहुत पुराना है और इसी लिए उस का पता पुराने से पुराने सूत्र ग्रन्थों में भी चलता है। परन्तु युरप के लिए यह विचार नया है अर्थात् इस विचार की उत्पत्ति रोम में केवल २,५००) वर्ष पहले हुई। इस पद्धति के अन्तरगत सब अपराधों का निर्वचन तथा उनके सिद्ध होने पर उचित दंड का विधान; आजाते हैं।

(४) **दण्ड-विनियोग-विधि**। इस पद्धति में दण्ड के नियमों को प्रयोग में लाकर प्रजा की वास्तविक रक्षा के नियम आजाते हैं।

(५) **राज-सम्बन्धी व्यवहारिक नियम।** राष्ट्र सब से बड़ा ज़मीन्दार है और सबसे बढ़ कर सौदे करने वाला। इस लिए जहां किसी अभियोग में एक पुरुष राष्ट्र हो वहां व्यवहार के विशेष नियम बनाने होंगे। इसी के अन्तरगत वे सर्व नियम आजायंगे जो राष्ट्र को एक कृत्रिम पुरुष कल्पना करके उत्पन्न होंगे।

बारहवाँ अध्याय

राष्ट्रान्तं परस्पर-व्यवहारिक-नियम।

जैसे व्यक्तिक-न्याय-नियम तथा राष्ट्रीय—न्याय—नियम व्यक्तियों के परस्पर तथा व्यक्तियों और राष्ट्र के पारस्परिक सम्बंधों का निर्णय करने के लिये होते हैं, वैसे ही राष्ट्रों के पारस्पारिक झगड़ों के निवटारे के लिए International Law समझी जाती है। परन्तु साधारण Law तथा International Law में भेद यह है कि इस के निर्माण करने वाली कोई प्रधान—शासक-शक्ति नहीं होती। इस को धर्म-शास्त्र कहना भी असगत ही है, क्योंकि यहां कोई प्रधान-शासक-शक्ति ही नहीं है। प्रथम तो सारे संसार के राष्ट्र इस में शामिल नहीं। जो जापान आज बृटिश चक्रवर्ती राज्य का परममित्र और युरोपियन प्रथम कक्षा के राष्ट्रों का भाई समझा जाता है, उस समय तक इन व्यवहारिक नियमों का अधिकारी नहीं समझा जाता था जब तक उसने सहस्रों रूसियों का वध करके यह सिद्ध नहीं कर दिया था कि वर्त्तमान सभ्यता की अन्तरीय समिति में प्रवेश करने का वह अधिकारी है। चीन को (इतना बड़ा देश और संसार की जन—संख्या के चौथे भाग का मालिक होते हुए) भी अब तक कोई नहीं पूछता

क्योंकि उसमें अर्वाचीन सभ्यता के कोई भी चिन्ह नहीं पाए जाते।

फिर जो राष्ट्र इस International states के मायावी चक्र में सम्मिलित हैं उन को भी कोई न्यायालय उसी समय तक काम देसकता है जब तक कि उन में सन्धि है। युद्ध के छिड़ते ही कोई भी ऐसी नियामक शक्ति नहीं जो इन सब को नियमबद्ध कर सके। वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध जब नहीं छिड़ा था उस समय इस मायावी चक्र के अन्दर निवास करने वाले राष्ट्रों ने Netherlands के हेग [Hague] नगर में एक सर्व सम्मत न्यायालय खोला हुआ था जहां राष्ट्रों के परस्पर के अभियोग सुने जाते और उन का निर्णय होता था। परन्तु इस विश्वव्यापी युद्ध के छिड़ते ही उस न्यायालय के कपाट बन्द हो गए। जिन्होंने न्याय करना था जब वही सब अन्याय करने में अपना बचाव तथा अपनी उन्नति समझते हैं, तब फिर सिवाय एक दूसरे का सर्वनाश करने के कहीं विराम का स्थान भी नहीं दिखाई देता।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी एक ऐसी पद्धति की आवश्यकता अनुभव हो रही है जो विवाद होने पर राष्ट्रों को एक दूसरे का खून पीने से रोकने के उपाय बतला सके और साथ ही यह भी जतला सके कि उन नियमो को चलाने का काम कौनसी शक्ति कर सकेगी।

इस समय राष्ट्रों के व्यहारिक नियम चार भागों में विभक्त हैः—

(१) सम्मिलित राष्ट्रों की स्थिति सम्बन्धी नियम। इस में यह बतलाया जाता है कि किस अवस्था में एक राष्ट्र इस मायावी—चक्र में शामिल समझा जावे और कैसे परिवर्तन पर उसका अधिकार इस शृंखला से उठ जाता है।